# अच्युतत्व

*[ एक परमहंस महात्माके उपदेश ]*

अच्युतके साथ अच्युततादात्म्यापन्न अच्युतकी स्मृतिमें स्थापित अच्युतका अच्युत लक्ष्य यही है कि अनन्त सच्चिदानन्दघन अच्युतके अच्युत अंशभूत अच्युतस्वभाववान् जीवोंको अच्युत शास्त्रीय साधनों द्वारा अच्युत परम पद प्राप्त हो।

विश्वकी शान्ति और सुखमें ही अपनी शान्ति और सुख माननेवाले अभिज्ञ महापुरुषोंका यह अच्युत निश्चय है कि अनादिकालीन जन्म-मरण-परम्परारूप संसारमें चक्कर लगानेवाले जीवोंको तब तक पूर्ण शान्ति एवं सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती जब तक वे अपने आश्रयभूत परिपूर्ण परब्रह्मके साथ अभेद-भावसे सायुज्य प्राप्त न कर लें। जैसे तागेसे बँधा हुआ पक्षी इधर उधर भ्रमण करता हुआ परिश्रान्त एवं उद्विग्न होकर शान्ति एवं विश्रान्तिके लिए अपने आश्रयका ही संश्रय करता है—

'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वा०' (छा० ६।८।२)

वैसे ही जब जीव अपने अनन्त संविदानन्दस्वरूप परिपूर्ण परमात्मारूप आश्रयसे वियुक्त होकर जाग्रत्प्रपञ्च एवं स्वप्नप्रपञ्चके अन्तर्गत अनन्त विषयोंमें आसक्त होता हुआ अनन्त प्रकारके शोक, मोह आदि अनर्थोंका अनुभव कर उद्विग्न एवं अशान्त होता है, तभी वह अपने आश्रयके साथ सायुज्यकी अभिलाषा करता है। जाग्रदवस्था एवं स्वप्नावस्थामें यद्यपि विविध सुख और उनकी सामग्रियाँ विद्यमान हैं, तथापि किसी समय उनकी भी उपेक्षा करके जीवको अद्वैत ब्रह्मरूप स्वाश्रयके सम्मिलनकी उत्कट अभिलाषा होती है। यहाँ तक कि कर्म एवं उपासना द्वारा प्राप्त दुर्लभ लोकोंमें दुर्लभ सुखका उपभोग प्राप्त करके भी इस अद्वैत ब्रह्मरूप स्वाश्रयके सम्मिलनकी उत्कट वाञ्छा बनी ही रहती है।

…अतिदुर्लभ लोकोंका आधिपत्य भी प्राप्त है, उन्हें भी इस अद्वैत तत्त्वका

सम्मिलन सुतरां वाञ्छनीय ही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति-प्राकृत नामरूपमय प्रपञ्चके अन्तर्गत चाहे जितनी उन्नति एवं सुखसामग्रियाँ प्राप्त हों; किन्तु द्वैत एवं दुःखरूप होनेके कारण वे अनन्त शान्ति एवं विश्रान्तिके सम्पादनमें अत्यन्त असमर्थ हैं। ठीक ही है, भला महासमुद्रसे वियुक्त होकर तरंगको शान्ति और विश्रान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है, महाकाशसे वियुक्त होकर घटाकाशको शान्ति और विश्रान्ति कैसे मिल सकती है और बिम्बसे वियुक्त होकर प्रतिबिम्बमें शान्ति और विश्रान्ति कैसे हो सकती है? शान्ति और विश्रान्ति तो दूर रही महासमुद्र, महाकाश और बिम्बसे वियुक्त होकर तरंग, घटाकाश और प्रतिबिम्बकी स्थिति भी नहीं हो सकती। अतः वास्तविक अभेद एवं अव्यवधान-दशामें ही भेद एवं व्यवधान अनादिकल्पनामात्र है।

'गिरा अर्थ जल वीचि जिमि कहियत भिन्न न भिन्न'

सुषुप्तिकालमें होनेवाली अद्वैतात्मसम्पत्ति पूर्ण नहीं होती है। यद्यपि जाग्रत् एवं स्वप्नकी अपेक्षा सुषुप्तिमें शान्ति और विश्रान्तिकी यत्किञ्चित् प्राप्ति होती है, तथापि अनन्त, अपरिच्छिन्न एवं अनावृत आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती। अतः अनन्त शान्ति और विश्रान्तिके लिए अनावृत एवं अनन्त अच्युतानन्दतत्त्वकी ही प्राप्ति जीवमात्रको अपेक्षित है। यद्यपि अशेष अनर्थकी निवृत्ति एवं अनन्त आनन्दकी प्राप्तिके लिए प्रत्येक प्राणी लालायित है, सुषुप्ति-सुखकी लालसा उसका एक उदाहरणमात्र है, तथापि व्यामोहवश साधनोंके निश्चयाभावसे प्राणियोंकी साधनाभासमें ही प्रवृत्ति एवं वास्तविक साधनकी ओर अरुचि होती है। तात्पर्य यही है कि यद्यपि प्रत्येक प्राणीको अपना हित अत्यन्त अभीष्ट है, तो भी वह मोहवश हिताचरणके विपरीत अपने अहितका ही आचरण कर बैठता है अर्थात् हितमें अहित बुद्धि और अहितमें हित बुद्धिसे ही प्रत्येक पुरुष हितकी उपेक्षा और अहितका ग्रहण करता है।

शास्त्रोक्त धर्मपर विश्वास न रखनेवाले लौकिक उपायोंसे ही अर्थ और कामके सम्पादनमें तत्पर मनुष्य भी हिताचरण और अहितकी उपेक्षा ही चाहता है। जिन्हें शास्त्र एवं शास्त्रमें उक्त धर्मपर आस्था है, वे शास्त्रोक्त उपायोंसे पारलौकिक अभीष्ट धर्म एवं मोक्षरूप हितके सम्पादन एवं तद्विपरीत विघ्न या बाधकरूप अहितोंसे बचनेका प्रयत्न करते हैं। भेद इतना ही है कि

दीर्घदर्शी अभिज्ञ पुरुष स्थायी शान्ति और सुखके हेतु तत्त्वको ही हित समझता है, तद्विपरीत स्थायी सुखके विघातक लौकिक हितको हिताभास ही समझता है। जैसे सौगन्ध्य, माधुर्य और सौन्दर्यसे सम्पन्न विषसम्मिश्रित पक्वान्न तत्क्षण तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्तिका साधन होनेपर भी स्थायी हितका विघातक होनेसे विघातक ही समझा जाता है, याने लौकिक उपायोंसे लौकिक काम और अर्थसम्पत्ति भी हित ही है, परन्तु उसी दशामें जब कि वह पारलौकिक स्थायी हितका बाधक न हो, ऐसे हितका भी विरोधी अच्युत नहीं है, प्रत्युत समर्थक ही है। परन्तु लौकिक हिताभास सुखाभास वैषयिक क्षुद्र सुखके लोभसे अचिन्त्य अनन्त अच्युत आनन्दका बाध अच्युतके लिए असह्य है। अतएव उसका यह विरोधी है।

शास्त्र एवं शास्त्रप्रतिपादित धर्मपर विश्वास रखनेवाले प्राणियोंमें भी शास्त्रके अभिप्रायके अज्ञानसे या किन्हीं अन्य हेतुओंसे धर्ममें अधर्मबुद्धि एवं अधर्ममें धर्मबुद्धि भी संभावित होती है। यही कारण है कि अति आस्तिक या आस्तिकाभासोंमें—पुरातन सनातन और परिष्कृत सनातनमें—अत्यन्त मतभेद है। कहीं-कहीं शास्त्रके अभिप्राय जानने और न जाननेसे ही मतभेद होता है। उस मतभेदका निराकरण विचारसे ही हो सकता है। परन्तु लौकिक प्रलोभनोंसे जान-बूझकर जो धर्माधर्मके विनिमयका सम्पादन किया जाता है, उसकी चिकित्सा तो अच्युतके परमतात्पर्यविषयीभूत अच्युतसे ही हो सकती है। वास्तवमें लौकिक उपायोंके प्रयोक्ताओंको इसपर ध्यान अवश्य देना चाहिए कि उनके जीवनमें उनसे प्रयुक्त उपायोंका फल उनके दृष्टिगोचर हो। अन्यथा देहमात्रको आत्मा माननेवाले ईश्वर वा शास्त्रप्रतिपादित धर्म अथवा पारलौकिक फलपर विश्वास न रखनेवाले यदि किसीने लौकिक फलकी प्राप्तिके लिए अपना धनक्षय, जनक्षय, शक्तिक्षय या सर्वस्वनाश कर लिया और उसका फल आकाश कुसुमके समान ही रहा, तो वह उपाय नीतिज्ञोंकी दृष्टिमें अत्यन्त अनुपादेय सिद्ध होता है। अतः दीर्घकालिक उपायसाध्य फलोंके अभिमानियोंको भी देहव्यतिरिक्त जन्मान्तरीय या पारलौकिकफलसम्बन्धी आत्मा एवं ईश्वर, शास्त्र और तदुक्त धर्मके साथ सम्बन्ध मानना आवश्यक होता है ताकि इस जन्ममें फलकी प्राप्ति न होनेपर भी उनके प्रयत्नका फल जन्मान्तरमें प्राप्त हो सके। और उपायोंके साथ धर्माविरोध या धर्मसम्बन्धकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उसके बिना दीर्घ-

कालिक उपाय-साध्य फलके लिए प्रयत्न अत्यन्त अयुक्त समझा जाता है। आत्माको जन्मान्तरीय-फल-सम्बन्धी माननेपर भी अभिलषित फलकी प्राप्तिके लिए ईश्वर या धर्मका सम्बन्ध अपेक्षित ही होता है, क्योंकि उसकी प्राप्तिका साधन केवल अभिलाषा ही नहीं है। धर्मनिरपेक्ष अभिलाषा फलके सम्पादनमें कदापि समर्थ नहीं हो सकती—

परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि ।
युक्तात्मन्यफला ह्यासन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥'* ( भा० ७।५।४१ )

'विफल होहिं रावणसर कैसे ।
खलके सफल मनोरथ जैसे ॥'

इस समय जो प्राणी जिस देश और जिस राष्ट्रके उद्धारके लिए प्रयत्न कर रहे हैं, हो सकता है कि वे ही जन्मान्तरमें देशान्तरके सम्बन्धसे परतन्त्रताकी दृढ़ताके लिए ही प्रयत्न करें, क्योंकि नवीन सम्बन्ध प्राचीन सम्बन्धका अभिभव कर देता है, यह प्रत्यक्ष ही है। प्राक्तन समस्त सम्बन्धियोंकी विस्मृति और सब प्रकारके सम्बन्धोंका विच्छेद अनुभवसिद्ध है। हाँ, यदि धर्मयुक्त अभिलाषा हो, तो वह अवश्य ही अभिलषित फलकी प्राप्तिमें हेतु होती है। जैसे कोई सम्राट् लौकिक प्रयत्न द्वारा अन्य राष्ट्रको स्वायत्त करनेके लिए प्रयत्न करते समय यदि शस्त्राघात आदिसे नष्ट हो जाय, तो धर्मनिरपेक्ष वासनामात्रसे वह जन्मान्तरमें राष्ट्रके आधिपत्यको प्राप्त नहीं कर सकता। हाँ, यदि धर्मसापेक्ष वासना हो, तो वह अवश्य फलकी साधिका हो सकती है। तात्पर्य यही है कि वैषयिक क्षुद्र सुखोंके प्रलोभनमें शास्त्र एवं धर्मकी उपेक्षासे प्राणियोंका अत्यन्त अहित है। उसमें हित बुद्धि करना अत्यन्त अदूरदर्शिताका द्योतक है। इसी लिए शास्त्र प्रतिपादित, अव्यभिचरित स्थिर शान्ति एवं विश्रान्तिके अच्युत साधनोंका अभ्रान्तरूपमें प्रकाश करना भी अच्युतका लक्ष्य है।

धर्ममें अधर्मबुद्धि और अधर्ममें धर्मबुद्धि विश्वके पतनका मूल कारण है। अतः उसके निराकरणमें सदा सचेष्ट रहना अच्युतका अच्युत कर्तव्य है। इस तरह ऐहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयके साधनोंका आनुषङ्गिकरूपसे

* जैसे पुण्यहीन पुरुषसे आरम्भ किये गये लौकिक उद्यम निष्फल होते हैं, वैसे ही निर्विकार निराधार निरतिशय ऐश्वर्यसम्पन्न सर्वात्मा भगवान्में लीन प्रह्लादपर उनके (असुरोंके) प्रहार निष्फल हुए।

प्रकाशन करता हुआ प्राणी-मात्रका परम ध्येय, ज्ञेय, आराध्य, अपरिच्छिन्न अचिन्त्य और अप्रच्युतस्वभाव भगवत्तत्त्वकी प्राप्तिका अव्यभिचरित उपायभूत भगवदाराधनबुद्धिसे अनुष्ठीयमान जो वर्णाश्रमानुसार श्रौतस्मार्त धर्म है, उसका प्रकाशन अच्युतका अन्तरङ्ग विषय है।

समाजसंग्रह या अन्यान्य प्रलोभनोंसे शास्त्रीय धर्मतत्त्वके हिंसकोंके सिद्धान्तोंका निराकरण भी उसी कोटिमें निक्षिप्त है।

अच्युतके सिद्धान्तमें अच्युतभक्तिकी असाधारण सामग्री शास्त्रप्रतिपादित धर्म-कर्म ही अभीष्ट है। तदविरुद्ध अन्यान्य शास्त्रप्रसिद्ध सामग्रियाँ भी पूर्णरूपसे आदरणीय ही हैं। अच्युतका अच्युत तत्त्व अत्यन्त अपरिच्छिन्न और उदार है। उसमें 'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्' के अनुसार भेद एवं अभेद दोनोंके ही लिए स्थान है। तात्पर्य यह हैं कि वेदान्तशास्त्रके महातात्पर्यके विषयीभूत अच्युत तत्त्वकी व्यापकता, अनन्तता और परिपूर्णताको अक्षुण्ण रखते हुए यदि व्यवहारोपयुक्त भेदगर्भित भगवदनुरक्तिमें अपेक्षित भेद हो, तो वह भी अभेदसे कम आदरणीय नहीं है—

'पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे'* ।
'भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्'† ॥

वस्तुतः अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्तप्राणियोंकी विचित्र प्रकृतिके अनुसार अनादि परमेश्वरीय विज्ञानमय वेदादि सत् शास्त्रोंने अनेक मार्गोंका उपदेश किया है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वे मार्ग अनियमित एवं शास्त्र-सीमाके बहिर्भूत उच्छृङ्खल एवं शास्त्रीय विषयोंसे अनियन्त्रित भी उपादेय हो सकते हों; किन्तु शास्त्रीय सीमाके अन्तर्गत शास्त्रीय विषयोंसे नियन्त्रित ही मार्गोंका अनेकत्व बुद्धिमानोंको सम्मत है। तदनुसार एक ही वेदान्त-वेद्य परिपूर्ण परम तत्त्व अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्तिसे अनेक उपास्य स्वरूपोंमें भी व्यक्त होता है अर्थात् शिव, विष्णु, गणपति, सूर्य और शक्ति उसीके रूप हैं।

उपासनानियमोंके अनुसार प्रायः भक्त लोग शिवको जीव विष्णुको ईश्वर एवं विष्णुको जीव और शिवको ईश्वर आदि कल्पनाओं द्वारा

---

* वास्तवमें अद्वैत ही है केवल भक्तिके लिए द्वैतकी कल्पना की जाती है।

† भक्तिके लिए कल्पित द्वैत अद्वैतसे भी अच्छा है।

परस्परानुरक्त तत्त्वोंका सम्मान या अपमान करते हैं। इतना ही नहीं, बरन् भगवान् विष्णुके ही स्वरूपोंमें कोई श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्रजीको परिपूर्ण परब्रह्म पदपर आसीन करते हैं और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दको अपकृष्ट समझते हैं। तथा कोई श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दको ही उत्कृष्टोत्कृष्ट पदपर आसीन करते हैं एवं श्रीमद्रामभद्रको अपकृष्ट समझते हैं।

'रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव'

भावनामय स्वरूपभेद अनुरक्तिदार्ढ्यके लिए अच्युतको भी अभीष्ट ही है। अच्युत केवल वस्तुभेदकी प्रतिपत्तिमें ही विप्रतिपत्ति या उसका खण्डन करता है। अर्थात् वस्तुस्वरूपके एक होते हुए भी भावनामय स्वरूपभेद और उनका तारतम्य भावुककी भावनाके अनुसार अयुक्त नहीं है। जैसा किसी भावुकने कहा है—

'महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे
तथाऽपि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे॥'*

'श्रीनाथे जानकीनाथे विभेदो नास्ति कश्चन।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः† ॥'

कहा कहूँ छबि आजकी, भले बने हो नाथ‡।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण लो हाथ॥
कित मुरली कित चन्द्रिका, कित गोपिनको साथ,
अपने जनके कारणे श्याम भये रघुनाथ॥

अच्युतका अच्युत अचिन्त्य अनन्तगुणगणनिलय होता हुआ भी गुणगण-कृत सौरुय, महत्त्व आदि निरपेक्ष हो पूर्ण, अनावृत, अनन्त, विज्ञानानन्द स्वरूप

---

* यद्यपि जगत्के स्वामी भगवान् महादेवजीमें और जगत्के अन्तर्यामी भगवान् विष्णुमें मेरी तनिक भी भेदबुद्धि नहीं है तथापि मेरी भक्ति भगवान् चन्द्रशेखरमें ही है।

† यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण एवं भगवान् रामचन्द्रजी में कुछ भी अन्तर नहीं है, तथापि मेरे सर्वस्व कमललोचन श्रीरामचन्द्र ही हैं।

‡ श्रीरामभद्र।

है। अतएव स्वभावसे जो निर्गुण है उसके स्वरूपभूत माधुर्यपर मुग्ध होकर तदाश्रित होनेमें ही गुण अपना परम सौभाग्य समझते हैं। अच्युतका अच्युत अनृत, जड़, दुःख और नानात्मक सविशेष प्रपञ्चका निदान होता हुआ भी परम सत्य, परम चैतन्य, परमानन्द एवं अद्वितीय परम निर्विशेष है। अच्युत एक विज्ञानमें सर्वविज्ञानकी श्रौती प्रतिज्ञाके अनुपचरितरूपसे समर्थनके लिए अचिन्त्य अनिर्वाच्य शक्तिसे युक्त अच्युतको ही प्रपञ्चका उपादान एवं निमित्त मानता है। विशेषण या नियम्य स्वतन्त्र सत्तावाले प्रकृति, परमाणु आदिकी कारणताका उपचारमात्र अनुमत नहीं है। जैसे वह्नि-शक्ति वह्नि-स्वरूप नहीं है, किन्तु वह्निसे विलक्षण है, वैसे ही सविशेष सद्रूप प्रपञ्चमूल निर्विशेषसत्की प्रपञ्चोत्पादनानुकूल सच्छक्ति भी सद्रूप नहीं है अर्थात् सत्के समान सत्तावाली नहीं है। अतएव सद्विलक्षण है। जैसे मृत्तिकासामान्य मृत्तिकाविशेष घट आदिका कारण है, वैसे ही सत्सामान्य सद्विशेष प्रपञ्चका निदान है। कार्यकी सविशेषता, जड़ता और दुःखात्मता अच्युतकी स्वभावभूत निर्विशेषता और परमचैतन्यानन्दस्वरूपताको प्रच्युत करनेमें समर्थ नहीं हैं। प्रत्युत परमकारणभूत अच्युतकी ओर अग्रसर होते ही स्वयं अस्तंगत हो जाती हैं। कार्यकारणका वैलक्षण्य लोकमें दृष्ट है। अचेतन गोमय आदिसे चेतन वृश्चिक आदिकी सृष्टि होती है और चेतन शरीरसे अचेतन नख, लोम आदिकी सृष्टि देखी जाती है। अतएव परमसत्य, चैतन्य, आनन्द, निर्विशेष अच्युतसे अनृत, जड़, दुःखात्मक, सविशेष प्रच्युतस्वभाव जगत्की उत्पत्तिमें कोई बाधा नहीं है। अतएव एतादृश प्रपञ्च अच्युतसे उत्पन्न होकर भी अच्युतकी कूटस्थता, निर्विकारता और अनन्तताको प्रच्युत करनेमें समर्थ नहीं है। अतः अच्युतका अच्युतत्व सर्वथा ही अच्युत रहता है। समान सत्तावाले भाव एवं अभावका ही पारस्परिक विरोध होता है। विषम सत्तावालेका नहीं होता। अतएव व्यावहारिक, प्रापञ्चिक सद्वितीयता और अपारमार्थिकता अच्युतकी पारमार्थिकता और अद्वितीयताको प्रच्युत करनेमें समर्थ नहीं है। अच्युतके अच्युतका सत्यत्व घटादिके सत्यत्वके समान ही नहीं, प्रत्युत अच्युतका अच्युत सत्योंका भी सत्य है। जैसे 'राजराजः' इत्यादि स्थलोंमें प्राथमिक षष्ठ्यन्त राजपदवाच्यकी अपेक्षा तदुत्तरभावी प्रथमान्त राजपदवाच्यका उत्कर्ष होता है अर्थात् आपेक्षिक प्रजाओंकी अपेक्षा यत्किञ्चित् ऐश्वर्यशाली व्यक्तिविशेष राजपदवाच्य होता हुआ भी पूर्ण ऐश्वर्यशाली सम्राट् या राजराजकी अपेक्षा प्रजा ही होता है, वैसे ही शुक्तिरूप्य,

रज्जुसर्प आदि प्रातिभासिक असत्य पदार्थोंकी अपेक्षा सत्य भी आकाशादि सत्यके सत्यभूत सर्वथा अबाध्य परिपूर्ण परब्रह्मकी अपेक्षा असत्य ही हैं। अर्थात् जैसे कि जीव और जगत् स्वरूपकी अपेक्षा परमात्मस्वरूपका वैलक्षण्य सर्ववादिसम्मत है।

अच्युतके सिद्धान्तमें जगदादिके सत्यत्वकी अपेक्षा परमात्मस्वरूपके सत्यत्वमें भी वैलक्षण्य है। अच्युतके सिद्धान्तमें अच्युतके अंशभूत जीव अच्युत ही हैं। अच्युतस्वरूप जीवोंको अच्युतसे च्युत करनेवाला जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिका कार्य-कारणरूप प्रपञ्च ही है। इन कार्यकारणात्मक उपाधियोंके साथ तादात्म्याध्याससे ही अच्युतांशभूत जीवोंका अच्युत भी अनन्तचैतन्यानन्दस्वरूप प्रच्युत-सा प्रतीत होता है। अच्युतकी अच्युत स्मृतिसे प्राप्त अच्युतकी अच्युत प्रसन्नतासे विघ्न-समूहभूत जाग्रदादि प्रपञ्चका विलयन होता है। तदनन्तर स्वरूपभूत जाग्रदादिकल्पनातीत अनन्तस्वरूपके साथ अनन्तकालके लिए तादात्म्यापन्न होकर अच्युतांशभूत जीव अच्युत ही हो जाता है।

इस तरह अच्युतकी असीम अनुकम्पासे अच्युत-सम्बन्धी सभी पदार्थ अच्युत ही हैं। अच्युतके मूल भी

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' *

इत्यादि स्मृतिके अनुसार अच्युत वेद, तन्मूलक स्मृति, इतिहास, पुराण आदि सत् शास्त्र ही हैं। सत्शास्त्रप्रतिपादित अच्युतादरणीय समस्त साधनकलाप भी अच्युत फलके साथ अव्यभिचरित सम्बन्धवाले होनेके कारण अच्युत ही हैं और अच्युतमें ही अच्युतका परम तात्पर्य है।

इस प्रकार स्वरूप, साधन, साध्य और स्मृति विषय—ये सभी अच्युत स्वरूप हैं। इसी वास्ते अच्युतका अच्युतत्व सर्वथा अव्याहत है। वास्तवमें अच्युतसे अतिरिक्तकी अच्युतप्राप्ति सम्भावित भी नहीं है। कारण कि अन्यका अन्यभाव या स्वरूपनाश दार्शनिकोंकी दृष्टिमें एक ही बात है। अतएव जीव अच्युतका अंश होकर भी यदि अच्युत स्वरूप न हो तो उसका औपचारिक भी अंशांशिभाव उपपन्न नहीं हो सकता, कारण कि अनन्त, कूटस्थ, निर्विकार अच्युत तत्त्वमें कला या खण्डरूप अंश अत्यन्त ही असम्भावित है। औपाधिक घटाकाशादिवत् औपाधिक ही अंशांशिभाव हो सकता है। अतएव आकर्षण या

* भगवान् ब्रह्माजीने आदि और अन्तरहित नित्य वाणीका उपदेश किया।

प्रीति भी सजातीयमें उपपन्न हो सकती है। अत्यन्त विजातीयमें यह सर्वथा असम्भावित है। इसीलिए अच्युतकी बहिरङ्गता, सोपाधिक और सातिशय प्रेमास्पदता, अनात्मता आदिके भयसे अत्यन्त अन्तरङ्ग, स्वयंप्रकाश एवं निरतिशय और निरुपाधिक प्रेमास्पदभूत प्रत्यगात्माके साथ अभेद द्वारा अच्युत अच्युतकी अन्तरतमता, स्वयंप्रकाशता और निरुपाधिक तथा निरतिशय प्रेमास्पदताके प्रख्यापनका प्रयत्न करता है। तात्पर्य यह है कि भगवती श्रुतिने अच्युतको सर्वावभासक बतलाया है। अच्युतके भानके अनन्तर ही अच्युतभास्य भावोंका भान अभिज्ञसम्मत है—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्'। परन्तु यदि अच्युत पराक्तत्त्व है, तो उसकी स्वयंप्रकाशता असिद्ध एवं असम्भावित है। हाँ, यदि अच्युत सर्वदृश्यावभासक, सर्वान्तरतम और प्रत्यगात्मरूप ही है, तो उसकी स्वयंप्रकाशता सम्भावित एवं प्रसिद्ध ही है। अतएव भगवती श्रुति प्रसिद्ध विज्ञातृस्वरूपसे ही अच्युततत्त्वका निर्देश कर कहती है—

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'

अतएव अच्युतके सिद्धान्तमें अच्युत अच्युतस्वभाव प्रत्यगात्माका, परम अन्तरङ्ग वास्तविक स्वरूप ही होनेसे, निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेमका आस्पद है। एवं उसके नित्यसिद्ध तादात्म्यरूप सम्प्रयोगमें उपद्रवरूप जाग्रदादि द्वैतदर्शन ही हैं। जाग्रदादि द्वैतदर्शनरूप उपद्रव या विघ्नोंसे अच्युतके अच्युत-तादात्म्यसम्प्रयोगका तिरोभाव ही अच्युतांशभूत जीवोंके लिए अनन्त दुःख एवं नाश है।

'प्रिय-वियोग सम जग दुख नाहीं'

अतः जाग्रदादि द्वैतदर्शन ही अच्युत-स्वभावके निराकरणका मूल कारण है। अच्युतस्वरूपका साक्षात्कार जाग्रदादि द्वैतदर्शनके निराकरणका निदान है। जाग्रदादि द्वैतदर्शनका निराकरण कर अच्युतांशभूत जीवोंका अपने प्रियतम परमप्रेमास्पद विज्ञानानन्दघन अच्युततत्त्वके साथ अच्युततादात्म्यरूप सम्प्रयोगसम्पत्ति ही परम पुरुषार्थ है। उसीके सम्पादनमें अच्युतका महातात्पर्य है। यही अच्युतका अच्युतत्व है।

# परम सुखी होनेका उपाय

[ *लेखक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज* ]

काशीवासी विश्वनाथकी जिसके ऊपर कृपा होती है, उसीको अपना कल्याण करनेकी इच्छा होती है, यानी संसाररूप महादुःखसागरसे छूट कर स्व-साम्राज्य कैवल्यपद प्राप्त करनेका विचार होता है, इतना ही नहीं, धन, धाम, ऐश्वर्य, सुत, दार, विद्या आदिकी प्राप्ति भी शशिशेखरके अनुग्रहसे ही होती है।

शिवशङ्कर और प्रभाशङ्कर दो युवक एक-साथ एक ही कालेजमें, एक ही कक्षामें पढ़ते थे और परस्पर गाढ़े मित्र थे। दोनों ही कुलीन और लौकिक संपत्तिसे संपन्न थे। कालेजसे निकलनेके बाद कई वर्ष तक दोनों मित्रोंका वियोग रहा, मिल न सके, क्योंकि प्राणियोंका संयोग-वियोग भी गङ्गाधर महादेवके अधीन है। बहुत दिनोंके बाद एक बगीचेमें दोनोंका सम्मेलन हुआ। दोनोंने परस्पर गले मिलकर आलिङ्गन किया और जैसे श्रीकृष्ण और सुदामाजीने बहुत दिन पीछे मिलनेके कारण प्रेमके आंसु बहाये थे, इसी प्रकार दोनोंने बड़ी देर तक प्रेमाश्रु बहाये। पीछे एकान्त स्थानमें बैठ कर दोनों मित्र इस प्रकार बात-चीत करने लगे—

प्रभाशङ्कर—भाई! जैसा मैंने आपको कालेजमें देखा था, वैसा ही अब भी देखता हूँ। किसी प्रकारका आपमें परिवर्तन नहीं हुआ, यानी जैसे आप पहले हृष्ट-पुष्ट थे, वैसे ही अब हैं। शरीरकी कान्ति और मुखका तेज तो पहले से भी अधिक है। आपका मुख देखनेसे आपकी भीतरी शान्तिका अनुमान होता है। आप बहुत ही शान्त मालूम होते हैं। क्या आपने ध्यान-समाधि सिद्ध कर ली है या भगवान्के पावन चरित्रोंका आपने पठन-पाठन किया है अथवा शम, दम आदि अन्य साधन किये हैं? किसी साधनके बिना तो ऐसी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जब आप बोलते हैं, तब फूलोंकी झड़ी-सी लग जाती है, चेहरा कुंदन-सा चमकता है, आँखें प्रेमरससे पूर्ण हैं, फिर भी उनकी तरफ मैं देख नहीं सकता। पहले तो आप ऐसे नहीं थे। थोड़े ही दिनोंमें आपका कायापलट कैसे हो गया? क्या कोई कल्प तो आपने नहीं किया है? मेरे पास भी आशुतोष महादेवके अनुग्रहसे धन, धाम आदि समग्र सांसारिक सुखकी सामग्री मौजूद है, फिर भी मुझे शान्ति नहीं है। यद्यपि ऊपरसे हृष्ट-पुष्ट दिखायी देता हूँ, परन्तु पूर्वका-सा सामर्थ्य मुझमें नहीं है, पूर्वकी अपेक्षा ऊपरसे भी कुछ-

न-कुछ न्यूनता ही है। क्या आपको बहुत-सा धन तो कहींसे नहीं मिल गया है? नहीं, नहीं, धनसे ऐसी शान्ति नहीं हो सकती, धनसे शान्ति होती तो मुझे भी होती, धनकी मेरे पास कमी नहीं है, परन्तु मुझे किञ्चित् भी शान्ति नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि धनसे आपमें ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता, कोई अपूर्व वस्तु ही आपको प्राप्त हो गई है, ऐसा अनुमान होता है। वह वस्तु मुझे भी, यदि मैं उसके पानेका अधिकारी होऊँ, तो बतलाइए और मुझे भी अपने समान सुखी और शान्त बनाइए।

शिवशङ्कर—( प्रसन्न होकर ) मित्र! यद्यपि आप मुझे पहलेसे ही प्यारे हैं, तथापि आपके इस प्रश्नसे आप मेरे और भी परम प्रिय हो गये हैं। जो कुछ मुझे प्राप्त हुआ है, जिसके कारण मुझे अपूर्व शान्ति प्राप्त हुई है, वह वस्तु मैं आपको अवश्य ही बतलाऊँगा। सुनिए, न तो मैंने ध्यान-समाधि सिद्ध की है और न जप, तप, शम, दम आदि साधनोंका अभ्यास ही किया है। साधनोंके अभ्याससे कुछ मिलता भी नहीं है, जो कुछ मिलता है, वह वृषभध्वज उमानाथकी कृपासे ही मिलता है, ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है। धन मेरे पास पहलेसे है ही, यह आपसे भी छुपा नहीं है। भूमादेवने मुझे भूमिके कई ग्राम दे रक्खे हैं, उनकी आमदनी पर्याप्त है। मैंने अपने ग्रामसे बाहर एक मैदानमें चार कुटियाँ बना रक्खी हैं, पाँच चार सन्त महात्मा उनमें प्रायः नित्य ही रहा करते हैं। दो चले जाते हैं, तो दो और आ जाते हैं। इस प्रकार चार पाँच नित्य बने ही रहते हैं। उनकी मैं यथाशक्ति सेवा करता रहता हूँ, उनका सत्संग करता हूँ और उनके मुखसे वेदान्तका श्रवण किया करता हूँ। स्वयं भी वेदान्तग्रन्थोंका अवलोकन करता रहता हूँ, इसीसे मुझे परम शान्ति प्राप्त हुई है।

प्रभाशङ्कर—मित्र! क्या वेदान्तके श्रवणमात्रसे ही आपको शान्ति प्राप्त हो गई है? सुना है कि श्रवणमात्रसे आत्माका साक्षात्कार नहीं होता, श्रवण किये गये तत्त्वका मनन करना पड़ता है, मनन किये गयेका निदिध्यासन करना पड़ता है। चिरकाल तक निदिध्यासन करनेसे विपरीत भावनाके निवृत्त होनेपर आत्मसाक्षात्कार होता है, नहीं तो आत्माका साक्षात्कार नहीं होता। आपको वेदान्तके श्रवणमात्रसे शान्ति कैसे प्राप्त हो गई? और आपके मुखसे, वचनसे और चेष्टासे शान्ति झलक रही है। इसलिए आपको शान्ति तो अवश्य ही प्राप्त है, इसमें संदेह नहीं है। क्या यह केवल श्रवणसे ही हो गई?

शिवशङ्कर—भाई ! जिसका मन शुद्ध होता है, उसको श्रवणमात्रसे ही तत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है, अशुद्ध मनवालेको श्रवणमात्रसे ज्ञान नहीं होता, किन्तु उसे चिरकाल तक मनन और निदिध्यासन करना पड़ता है। बात यह है कि गुरुमुखसे महावाक्योंके तात्पर्यका निश्चय करना श्रवण है, श्रवण किये गये तत्त्वको समझना मनन है और मनन किये गयेका ध्यान करना निदिध्यासन है। शुद्ध मनवाला ये तीनों एक-साथ ही कर सकता है, अशुद्ध मनवाला एक-साथ नहीं कर सकता, उसको तीनों क्रमसे करने पड़ते हैं। इसमें राजा अलर्कका दृष्टान्त प्रमाणरूप है।

रानी मदालसाके पाँच पुत्र थे। उनमें अलर्क सबसे छोटा था। अलर्कके चारों बड़े भाई तो होश सँभालते ही माता-पिताकी आज्ञा लेकर राजपाटपर लात मार कर बनको चले गये थे। अलर्कको उसके माता-पिताने राज्य करनेके लिए रोक लिया था, क्योंकि प्रजाका पालन करना ही राजाका परम धर्म है। माता-पिताके वनमें चले जानेपर अलर्क काशीका राज्य करने लगा। एक दिन उसके भाई अपने मनमें विचार करने लगे—

हम सब तो दुःखके आगार जगत्को छोड़कर नित्य निरन्तर ब्रह्मका अनुसंधान करते हुए सर्वदा ब्रह्मानन्दमें मग्न रहकर जीवन्मुक्तिके सुखका आनन्द लेते हैं, देह-त्यागके पश्चात् कैवल्य स्वराज्यको अवश्य ही प्राप्त हो जायँगे, परन्तु हमारा छोटा भाई संसार दल-दलमें फँस गया है, जीवन्मुक्तिका सुख तो उसको होगा ही नहीं, आत्मज्ञान भी उसे है या नहीं, इसकी परीक्षा करनी चाहिए। यदि न हो, तो उसे मृत्युके भयसे निर्भयकर देना हमारा कर्तव्य है। ब्रह्मवेत्ताके कुलमें कोई अब्रह्मवित् नहीं होता, ऐसा वृद्ध पुरुषोंका मत है। इसलिए आत्मज्ञानका उपदेश देकर हमें उसको राजपाटसे विमुख करके मोक्षकी ओर प्रवृत्त कर देना चाहिए।

ऐसा विचार कर अन्य राजाओंसे सेना माँगकर अथवा अपने योगबलसे ही मायिक सेना रचकर चारों भाइयोंने चारों तरफसे चढ़ाई करके काशीपुरीको घेर लिया। यह समाचार सुनकर अलर्क घबराया, मंत्री आदिसे सम्मति ली, तो किसी प्रकारका निश्चय न कर सका। रानी मदालसा एक पत्र अलर्कको दे गई थी और कह गई थी कि जब कोई महासंकट आवे, तब इस पत्रको खोलना, नहीं तो भुजामें बाँधे रहना। अलर्कने उस पत्रको खोलकर देखा, तो

उसमें लिखा हुआ था—'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि संसारमायापरिवर्जितोऽसि'। उसको पढ़ते ही अपने पूर्वसंस्कारोंके बलसे अथवा तत्त्वदर्शी माता-पिताके रजवीर्यके प्रभावसे, जैसे अष्टावक्र गुरुको तन, मन, धन दक्षिणामें दे देनेके बाद विदेहराजका मन विरुद्ध होकर ब्रह्माकार हो गया था, वैसे ही अलर्कका मन अमन हो गया और 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इस न्यायके अनुसार वह स्वस्वरूप ब्रह्ममें स्थित हो गया। उसने अपनेको सर्वत्र परिपूर्ण शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन पाया। उसका देहादिका अध्यास निवृत्त हो गया और उसने चारों भाइयोंको इस प्रकार पत्र लिखा—

हे राजाओ, हे शूरवीरो, प्रजाका रञ्जन करनेवालेको विद्वान् राजा कहते हैं तथा काम, क्रोध आदि शत्रुओंका वेग जिसके धैर्यको न डिगा सके, उसको वेदवेत्ता शूरवीर कहते हैं। यदि आपने प्रजाका रञ्जन करनेके लिए काशीपुरीपर चढ़ाई की है, तो आपका भला हो, आ जाइए, राज्य आपका है, प्रजाका पालन कीजिये और मुझे वन जानेकी आज्ञा दीजिये। वनमें जाकर मैं आत्मानुसन्धान करता हुआ आपके अनुग्रहसे अपने सनातनस्वराज्यपद विदेह-कैवल्यको प्राप्त हो जाऊँगा। आप मेरे गुरु हैं, मैं आपका शिष्य हूँ। मनसे, धनसे और कायासे आपका शिष्य हूँ। राज्यके भारसे मुक्त हो जाना और ईश्वरानुसन्धानमें संलग्न होना, मुझे आपकी कृपासे ही प्राप्त हुआ है, इसलिए आप मुझे अपनी आत्मा कैलासपति उमानाथसे भी अधिक प्यारे हैं। आपको करोड़ों वार नमस्कार हैं। यदि आपने युद्ध करनेके अभिप्रायसे मेरे ऊपर आक्रमण किया है, तो मैं समझता हूँ कि आप मुझे देहरूप बन्धनसे छुड़ानेके लिए, कैवल्यपद प्राप्त करानेके लिए अथवा लोकमें यश प्राप्त करानेके लिए आये हैं, इसलिए आप तलवार लेकर चारों एक साथ अथवा एक-एक करके मैदानमें मेरे सम्मुख आ जाइए। मनुष्य-शरीर यद्यपि दुर्लभ है, फिर भी मेरा प्रयोजन उससे सिद्ध हो गया है, मुझे उसमें आसक्ति नहीं है। यह क्षत्रियका शरीर है, यदि युद्धमें काम आ जाय, तो अति उत्तम है। दान देना क्षत्रियका परम धर्म है, हमारे पूर्वजोंने युद्धदान देनेमें कभी संकोच नहीं किया है, इसलिए आप यदि युद्ध मांगते हैं तो मैं सब प्रकारसे तैयार हूँ। क्षणभङ्गुर शरीरके सुखके लिए, राज्य पानेके लिए प्राणियोंकी हिंसा करना मैं राजाका धर्म नहीं समझता। हाँ, अपने धर्मकी रक्षा करनेके लिए अपने प्राण दे सकता हूँ।

छोटे भाईका धीरता, वीरता और उदारताका प्रकाशक पत्र पढ़कर चारों भाई बहुत ही प्रसन्न हुए। सबने आकर छोटे भाईको गले लगाया और इस प्रकार आशीर्वाद देकर अपने अपने स्थानको लौट गये। आशीर्वादके वचन ये हैं—हे सहोदर ! तेरी परीक्षा लेनेके लिए हमने तेरे ऊपर चढ़ाई की थी, तू ज्ञान, विराग और ईश्वरभक्तिसे युक्त है। राज्य करनेके योग्य है। तेरे शुद्ध विचार देखकर हम चारोंको बहुत ही संतोष हुआ है। तेरी बुद्धि इसी प्रकारकी सर्वदा शुद्ध बनी रहे। तुच्छ राज्यपाटका लोभ तेरे मनमें न आवे। अपने कर्तव्यको न भूलकर तू सदा अपनी आत्मा शम्भुका अनुसंधान करता हुआ प्रजाका रञ्जन करे। मृत्युलोकमें सब मनुष्य रोते हुए आते हैं, रोते हुए ही चले जाते हैं। कोई विरला माईका लाल ही यहां अपना यश फैलाकर हँसता हुआ कैलाशपतिके परमधामको चला जाता है, जहांसे फिर यहां लौटकर नहीं आता, वही धन्य है, उसीका जन्म सफल है, तू भी ऐसा ही हो, ऐसा ही हो। इति शम्।

ऐसा उपदेश और आशीर्वाद देकर चारों भाई अलर्ककी बुद्धिकी प्रशंसा करते हुए विचरने लगे और अलर्क राज-काज करने लगा। अन्तमें वनमें जाकर आत्मानुसंधान करते हुए उसने देहका त्याग किया।

अब आपकी समझमें आ गया होगा कि वेदान्तश्रवणमात्रसे किसी किसी विलक्षण बुद्धिवालेको ब्रह्मात्माका साक्षात्कार हो जाता है, जिसकी ऐसी विशुद्ध बुद्धि नहीं होती, उसको श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करनेसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है, इसमें भी मनन और निदिध्यासनका कारण होनेसे वेदान्त-श्रवण ही मुख्य है।

प्रभाशङ्कर—कोई कोई सन्त महात्मा गोविन्द गुणगानको ही श्रेयका परम साधन बताते हैं, आपका कथन उससे विरुद्ध है, इसका समाधान मैं आपके मुखसे सुनना चाहता हूँ।

शिवशङ्कर—भाई इसमें शब्दोंका ही भेद है, अर्थका भेद नहीं है, जो गोविन्दगुणगान है, वही वेदान्तश्रवण है और जो वेदान्तश्रवण है, वही गोविन्दगुणगान है। गोविन्दशब्दमें गो और विन्द दो पद हैं। गो नाम इन्द्रियोंका है और विन्द नाम प्राप्त होनेका है, जो इन्द्रियोंको प्राप्त हो गया हो, उसका नाम गोविन्द है। इस व्युत्पत्तिसे गोविन्द नाम सगुण ब्रह्मका है। श्रुतिका नाम भी गो है, जो श्रुतिके सिवा अन्य किसी प्रमाणसे प्राप्त न हो यानी श्रुतिसे ही जाना जाय, उसका नाम गोविन्द है। इस व्युत्पत्तिसे

निर्विशेष ब्रह्मका नाम गोविन्द है। गोविन्दगुणगानमें गानपद चिन्तन और धारणका भी उपलक्षण है, इसलिए गोविन्दगुणगान करना, चिन्तन करना और धारण करना श्रेयका मार्ग है, यह इस वाक्यका अर्थ हुआ। गोविन्द सविशेष और निर्विशेष ब्रह्मका नाम है, यह ऊपर कहा ही गया है। वेदान्तमें भी इन शब्दोंका श्रवण कराया जाता है, श्रवण और गान दोनों वाणीके व्यापार होनेसे एक ही हैं, चिन्तन और मनन दोनों पर्याय हैं एवं धारण और निदिध्यासन भी पर्याय हैं, इसलिए गोविन्दगुणगान और वेदान्तश्रवण दोनोंका एक ही अर्थ है, दोनोंमें भेद नहीं है। इस वेदान्तश्रवणसे ही मुझे परम शान्ति प्राप्त हुई है। यदि आपको सर्वदाके लिए सुखी और स्वतन्त्र होनेकी इच्छा है, तो नित्य निरन्तर वेदान्तका श्रवण किया कीजिये। परम शान्ति प्राप्त करानेवाला यही उपाय है, ऐसा मेरा अनुभव है और शुकादि अन्य महात्माओंका भी ऐसा ही मत है।

प्रभाशङ्कर अपने मित्रके कथनानुसार वेदान्तश्रवणमें तत्पर हो गया और धीरे धीरे शान्तिको प्राप्त होता हुआ अन्तमें सुखरूप सदाशिव अपनी आत्माका साक्षात्कार करके परम सुखी हो गया।

वेदान्तश्रवण देहाध्यासका मिटानेवाला, चिद्-जड़ग्रन्थिका खोलनेवाला, आत्मा और अनात्माका विवेक करानेवाला, परम शान्ति देनेवाला और नरको नारायण बनानेवाला है, इसमें किञ्चित् भी संशय नहीं है, क्योंकि यह बात श्रुति, स्मृति, युक्ति और विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध है। फिर भी 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' इस न्यायके अनुसार वेदान्तका श्रवण-श्रावण अनेक जन्मोंके पुण्य और अन्तर्यामी काशीश्वरकी कृपाके बिना नहीं होता। यदि कोई कहे कि वाल्मीकि, वसिष्ठ, व्यास आदि महात्माओ द्वारा मुमुक्षुओंके हितके लिए रचे गये बहुतसे ग्रन्थ हैं, तब यह कहना असंगत ही है कि वेदान्तश्रवण दुःसाध्य है, तो यह कथन यद्यपि ठीक है, फिर भी ये ग्रन्थ संस्कृत वाणीमें होनेसे अत्यन्त क्लिष्ट हैं, विद्वानोंके समझाये बिना साधारण पुरुषोंकी समझमें नहीं आ सकते। सन्त महात्मा प्रायः एकान्तमें वास करते हैं, कहीं कोई एकाध महात्मा ही वेदान्तका प्रवचन करते हुए दिखाई देते हैं। वेदान्तको सरल भाषामें समझानेवाला 'वेदान्तकेसरी' के सिवा दूसरा पत्र नहीं है। यह पत्र भी कलेवरमें बहुत छोटा है, ऐसा देखकर 'अच्युत' नामक पत्रके संरक्षकोंने बड़े कलेवरमें वेदान्तके गूढ़ रहस्यको सरल रीतिसे समझानेका बीड़ा उठाया है। गंगाधर काशीपति उमानाथ सदाशिवकी ही ऐसी प्रेरणा हुई

है कि 'अच्युत' वेदान्तके गूढ़ रहस्यका प्रचार करे। यह पत्र प्रसिद्ध महात्मा गंगातीरवासी अच्युत मुनिके स्मारकरूपमें प्रकाशित हुआ है और अच्युत भगवान्‌के तत्त्वका ही विवेचन करना इसका मुख्य उद्देश है, इसलिए इसका नाम 'अच्युत' है। आशा है कि यह पत्र अपना उद्देश्य पूरा करनेमें सफलता प्राप्त करेगा और भारतवासी श्रेयकाङ्क्षी इससे लाभ उठाकर परम पुरुषार्थ सिद्ध करेंगे। ॐ तत्सत्।

'अच्युत' पढ़िये प्रेमसे, समता मनमें आय।
अच्युत शंकर दर्श दें, शोक मोह भय जाय ॥
शोक मोह भय जाय, मृत्युसे हो छुटकारा।
माया मायाकार्य, विलय हो जावे सारा ॥
भोला! पढ़ वेदान्त, स्वाद आवेगा अद्भुत।
तज दे सब व्यापार, शम्भु भज चिन्मय अच्युत ॥

---

## प्रार्थना

[ *रचयिता—सेठ कन्हैयालालजी गोयनका 'दासहरि'* ]

**अबकी नाथ लेहु निभाय।**
**यदपि हौं कामी कुटिल पै नाथ सरल सुभाय।**
**नीच हौं अति पतित परनिन्दकरु अघी अघाय ॥**
**खान सब दुरगुननकी हौं अघहु गये हराय।**
**नाहिं तन-धन-बुद्धि-बल मोहि नाहिं कोऊ सहाय ॥**
**राखि लेहु निरावलम्बहिं युगल करन बढ़ाय,**
**साँच हियकी कहौं हरि जो देहु तुम बिसराय।**
**तौ न फिर तिहुँ लोकमें कोउ मोहिं जो अपनाय,**
**'दास हरी' निज विरदकी प्रभु लाज राखहु धाय।**
**कहुँ कलंक न पतितपावन नाममें लगि जाय ॥**

# भगवान् श्रीशङ्कराचार्य

*( लेखक—महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराजजी एम्० ए०, प्रिन्सिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, बनारस )*

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनको उपदेश देनेके बहाने श्रीमुखसे यह प्रतिपादन किया है कि जब-जब देशमें धर्मका ह्रास और अधर्मकी अभिवृद्धि होती है एवं जब-जब किसी भी कारणसे धर्मराज्यमें उच्छृङ्खलता तथा वैषम्य आदिका आविर्भाव होता है तब-तब मैं अपनी मायाका अवलम्बन कर धर्मसंस्थापनके लिए जगत्में आविर्भूत होता हूँ* । जन्ममृत्युरहित प्राकृतसम्बन्ध-विवर्जित सर्वभूतोंके अन्तर्यामी परमात्मा केवल जगत्के कल्याणके लिए देश तथा कालके उपयोगी शरीरको धारण करते हैं, क्योंकि स्थूल जगत्में स्थूलभावसे कार्य करनेके लिए स्थूल रूपका परिग्रह आवश्यक होता है। अनन्त शक्तियोंके परमाश्रयस्वरूप परमेश्वर प्रयोजनके अनुसार तत्-तत् शक्तियोंको अभिव्यक्त करनेके लिए स्वेच्छासे तद्योग्य शरीरका ग्रहण किया करते हैं ।

जिस समय भगवान् श्रीशङ्कराचार्य आविर्भूत हुए थे उस समय देशमें सद्धर्मका अनुष्ठान प्रायः लुप्त हो गया था । केवल इतना ही नहीं, उसका स्वरूपज्ञान भी उच्चकोटिके इने-गिने महापुरुषोंमें ही सीमित रह गया था। परमात्माकी ज्ञानशक्तिने ही उस अज्ञानप्रधान समयमें श्रीशङ्कराचार्यके रूपमें प्रकट होकर देशव्यापक अज्ञानान्धकारको दूर कर देशके एक कोनेसे दूसरे कोने तक वैदिक धर्म-कर्मका एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर दिया था। 'शङ्करः शङ्करः साक्षात्' इत्यादि वचनोंके अनुसार शङ्कराचार्य लोकगुरु भगवान् शङ्करके अवतार थे, यह सर्वत्र प्रसिद्ध ही है† ।

---

* यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ! ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

† कलौ रुद्रो महादेवो लोकानामीश्वरः परः ।
तदेव साधयेन्नृणां देवतानाञ्च दैवतम् ॥
करिष्यत्यवताराणि शङ्करो नीललोहितः ।
श्रौतस्मार्तप्रतिष्ठार्थं भक्तानां हितकाम्यया ॥

कुछ लोगोंको यह सन्देह हो सकता है कि भगवान् शङ्कराचार्यने आविर्भूत होकर ऐसा कौन-सा अभिनव सिद्धान्त प्रकट किया या धर्मका प्रचार किया जिससे यह प्रतीत हो सके कि उन्होंने जगत्का अवतारोचित अभूतपूर्व तथा लोकोत्तर कल्याण किया था ? वस्तुतः अद्वैतवाद अनादिकालसे ही तत्-तत् अधिकारियोंके अन्दर प्रसिद्ध था। उन्होंने प्रस्थानत्रयपर भाष्यका निर्माण कर अथवा अपने और किसी व्यापारसे कौन-सा विशेष कार्य सिद्ध किया ?

इस शङ्काका समाधान यह है कि यद्यपि अधिकारके भेदके अनुसार अद्वैत, द्वैत आदि मत अनादिकालसे ही प्रसिद्ध हैं, तथापि विशुद्ध ब्रह्माद्वैतवाद अवैदिक दार्शनिक सम्प्रदायके आविर्भावसे एक प्रकार लुप्त-सा हो गया था। योगाचार तथा माध्यमिक सम्प्रदायमें एवं किसी-किसी तान्त्रिक सम्प्रदायमें अद्वैतवादके नामसे जिस सिद्धान्तका प्रचार हुआ था वह विशुद्ध औपनिषद ब्रह्मवादसे अत्यन्त भिन्न है। वैदिक धर्मके प्रचार तथा प्रभावके मन्द हो जानेसे समाज प्रायः श्रुतिसम्मत विशुद्ध ब्रह्मवादको भूलकर अवैदिक सम्प्रदायों द्वारा प्रचारित अद्वैतवादका ग्रहण करने लगा था। हीनयान तथा महायानके अन्तर्भूत अष्टादश सम्प्रदाय ; शैव, पाशुपत, कापालिक, कालामुख प्रभृति माहेश्वरसम्प्रदाय; पाञ्चरात्र, भागवत प्रभृति वैष्णवसम्प्रदाय तथा गाणपत्य, सौर प्रभृति विभिन्न धर्मसम्प्रदाय भारतवर्षके विभिन्न देशोंमें फैल गये थे। स्थानविशेषमें आर्हत सम्प्रदायका

---

उपदेक्ष्यति तज्ज्ञानं शिष्याणां ब्रह्मसंज्ञितम् ।
सर्ववेदान्तसारं हि धर्मान् वेदनिदर्शितान् ॥
सर्ववर्णान् समुद्दिश्य स्वधर्मा ये निदर्शिताः ।
ये तं प्रीता निषेवन्ते येन केनोपचारतः ॥
विजित्य कलिजान् दोषान् यान्ति ते परमं पदम् ।
( कूर्मपुराण अ० ३० श्लोक ३२-३६ )

चतुर्भिः सह शिष्यैस्तु शङ्करोऽवतरिष्यति ।
व्याकुर्वन् व्याससूत्राणि श्रुतेरर्थं यथोचिवान् ॥
स एवार्थः श्रुतेर्ग्राह्यः शङ्करः सविता न ना ।
( शि० पुराण )

दुष्टाचारविनाशाय प्रादुर्भूतो महीतले ।
स एव शङ्कराचार्यः साक्षात् कैवल्यनायकः ।

प्रभाव भी कम न था। देशके खण्ड-खण्डमें विभक्त होनेके कारण तथा मनुष्योंकी रुचि और प्रवृत्तिमें विकार आ जानेके कारण श्रौतधर्मनिष्ठ एवं श्रौतधर्मसंरक्षक सार्वभौम चक्रवर्ती राजा भी कोई नहीं रह गया था, जिसके प्रभाव तथा आदर्शसे जनसमुदाय शुद्ध धर्मके अनुष्ठानमें प्रवृत्त हो सकता।

ऐसी परिस्थितिमें वैदिक साधनाके परम लक्ष्य विशुद्ध ब्रह्मतत्त्वविज्ञानका म्लान हो जाना असम्भव न था। योगाचार्यसम्मत विशुद्ध विज्ञानसन्तति निर्विशेष चिदानन्दघन ब्रह्मतत्त्वकी स्थानापन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि विज्ञान-वादीका विज्ञान परमार्थतः क्षणिक है और सन्तान कल्पित है। एवं शून्यवादीका शून्य मिथ्याभूत संसारका अधिष्ठान न होनेके कारण अव्यभिचारी सत्यस्वरूप ब्रह्मतत्त्वका स्थानापन्न नहीं हो सकता। तत्काल प्रचलित अद्वैतवादोंके समर्थक तथा प्रचारकगण विशुद्ध अद्वैतवादको कलङ्कित करके अपने-अपने संस्कार, रुचि तथा सम्प्रदायगत वैशिष्ट्यके पोषणमें बद्धपरिकर थे। भगवान् शङ्कराचार्यने अपने ग्रन्थोंमें वेदानुमत निर्विशेष अद्वैत वस्तुका शास्त्र तथा युक्तिके बलसे दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन कर केवल विविध द्वैतवादोंका ही नहीं, परन्तु भ्रान्त अद्वैत-वादका भी खण्डन ही किया है। शुद्ध वैदिक ज्ञानमार्गका अन्वेषण करनेवाले विरक्त, जिज्ञासु मुमुक्षु पुरुषोंके लिए यही सर्वप्रधान उपकार माना जा सकता है, क्योंकि भगवान् शङ्कर जैसे लोकोत्तर धीशक्तिसम्पन्न पुरुषको छोड़कर दूसरे किसीके लिए नागार्जुन, दिङ्नाग, असङ्ग वसुबन्धु और धर्मकीर्ति जैसे दार्शनिकोंके युक्तिजालका खण्डन करना सरल नहीं था। केवल इतना ही नहीं, अद्वैतसिद्धान्तका अपरोक्षतया स्वानुभव करके जगत्में उसके प्रचारके लिए तत्-तत् देश और कालके अनुसार मठादिस्थापन द्वारा ज्ञानोपदेशका स्थायी प्रबन्ध करना भी साधारण मनुष्यका कार्य नहीं था।

पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक भेदसे सत्ताभेदकी कल्पना करके भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने एक विशाल समन्वयका मार्ग खोल दिया था, वह अपने-अपने अधिकारके अनुसार वेदमार्गरत निष्ठावान् साधकके लिए परम हितकारी ही हुआ; क्योंकि व्यवहारभूमिमें अनुभवके अनुसार द्वैतभावका अङ्गीकार करते हुए और तदनुरूप आचार, अनुष्ठान आदिका उपदेश देते हुए भगवान्ने दिखाया है कि वस्तुतः वेदान्तोपदिष्ट अद्वैतभावसे शास्त्रानुमत द्वैतभावका विरोध नहीं है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्मज्ञानके उदयसे संस्कार या वासनाकी निवृत्ति, विविध प्रकारके कर्मोंकी

निवृत्ति तथा चित्तका उपशम हो जानेपर अखिल द्वैतभावोंका एक परमाद्वैतभावमें ही पर्यवसान हो जाता है। परन्तु जब तक इस प्रकार परा ब्रह्मविद्याका उदय न हो तब तक द्वैतभावको मिथ्या कहकर द्वैतभावमूलक शास्त्रविहित उपासना आदिका त्याग करना उनके सिद्धान्तके विरुद्ध है, क्योंकि अनधिकारीका अर्थात् जिसको आत्मानात्मविवेक नहीं हुआ है, जिसके चित्तमें पूर्णरूपसे वैराग्यका उदय नहीं हुआ है, जो साधनसम्पन्न नहीं है और जिसमें मुक्तिकी इच्छा तक उदित नहीं हुई है; उसके लिए वेदान्तज्ञानका अधिकार तक नहीं है। कर्मसे शुद्धचित्त होकर उपासनामें तत्पर होनेसे धीरे-धीरे ज्ञानकी इच्छा तथा उसका अधिकार उत्पन्न हो जाता है। अतएव व्यवहारभूमिमें अपने-अपने प्राक्तन संस्कारोंके अनुसार जो जिस प्रकार द्वैत अधिकारमें रहता है उसके लिए वही ठीक है। भगवान् शङ्कराचार्यजीका कहना यही है कि वह शास्त्रसम्मत होना चाहिए, क्योंकि उच्छास्त्रित पौरुषसे उन्नतिकी आशा नहीं है।

वर्णाश्रमधर्मका लोप होनेसे समाजमें धर्मविपर्यय अवश्यम्भावी है। भगवान् शङ्कराचार्यका सिद्धान्त है कि वर्णाश्रमधर्मका संरक्षण करना ही परमेश्वरका नररूपमें अवतीर्ण होनेका मुख्य प्रयोजन है। भगवान् शङ्कराचार्यके जीवन-चरित, शिष्योंके प्रति उनके उपदेश तथा ग्रन्थ आदिके पर्यालोचनसे प्रतीत होता है कि उन्होंने स्वयं भी वर्णाश्रमधर्मका उपकार करनेके लिए ही समग्र जीवन आत्मशक्तिका प्रयोग किया था, यह उनके अवतारत्वका ही द्योतक है। ये शङ्कररूपी शङ्करावतार वैदिकधर्मसंस्थापक, परमज्ञानमूर्ति, प्रज्ञा तथा करुणाके विग्रहस्वरूप महापुरुष वैदिकधर्मावलम्बी मनुष्यमात्रके सर्वदाके लिए प्रणम्य है।

# भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीका सर्वमान्य अद्वैतसिद्धान्त

( लेखक—महामहोपाध्याय पं० माधवशास्त्रीजी भाण्डारी )

चिदानन्दाकारं जलदरुचि सारं श्रुतिगिराम् ,
व्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियाम् ।
विहन्तुं भूभारं विदधदवतारं मुहुरहो ,
महो वारं वारं भजत कुशलारम्भकृतिनः ॥१॥

श्रीमद्भगवत्पूज्यपादने अद्वैतमतको सार ( रत्न ) रूपमें निकालनेके लिए तीनों 'प्रस्थानों' पर प्रसन्न-गम्भीर भाष्य रचकर उपनिषत्समुद्रका जो मन्थन किया और नवनीतप्रिय श्रीकृष्ण भगवान्ने अपने उपनिषत्सारभूत गीता-शास्त्रमें बार-बार बतलाये हुए 'अनन्यता' योगको पुष्ट करनेके लिए उसी समुद्रमें से जो कई रत्न निकाले, पाठकोंके सामने उन रत्नोंका तथा उन्हीं रत्नोंसे बने हुए रत्न-मन्दिरस्थानीय अद्वैतसिद्धान्तका उपन्यास करनेके लिए यह लेख प्रस्तुत किया जाता है ।

यह अद्वैत-सिद्धान्त सारे संसारके लिए शान्तिप्रदान करनेवाला एक रत्न-मन्दिर है और इसका महान् प्रासाद मुख्यरूपसे चार रत्न-स्तम्भोंपर खड़ा है । उन चार स्तम्भोंका विचार करनेसे मन्दिरकी सुदृढ़ता तथा सुखमयताका अनायास निर्णय हो जायगा; इसलिए प्रथम उन्हींपर दृष्टिपात करना उचित है ।

### अद्वैतसिद्धान्तके आधारभूत चार सिद्धान्तस्तम्भ

१—अविद्याको जन्म-मरणका मूल मानना, २—भूत, भौतिक आदि सारे संसारको मायानिष्पन्न मानना, ३—कारणके साथ कार्यकी अनन्यता मानना और ४—तत्त्वज्ञानसे अविद्यानिवृत्तिपूर्वक अपवर्ग मानना । ये चारों सिद्धान्त यदि सकल दार्शनिकोंके मतसे अङ्गीकृत हो जायँ, तो अद्वैतसिद्धान्त बिना किसी विरोधके सर्वमान्य हो जायगा । अतः यहांपर इन अवान्तर सिद्धान्तोंकी सर्वमान्यताका विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा । उसके भी पहले अविद्याका वेदान्ति-सम्मत स्वरूप क्या है, यह स्पष्ट करना आवश्यक है ।

### अविद्या अभावरूप नहीं, किन्तु भावरूप है

'अविद्या' पदका उच्चारण करते ही सर्वसाधारणकी दृष्टिमें विद्याका अभाव ही अविद्याका अर्थ आपाततः प्रतीत होता है । परन्तु 'नाभावाद् भावोत्पत्तिः'

इस न्यायसे अभावसे अस्मिता, राग, द्वेष आदि अविद्याकार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, यह आक्षेप हो सकता है। अतः वेदान्ति-सम्मत अविद्याका स्वरूप वास्तवमें विद्याका अभाव नहीं है, किन्तु भावरूप है; यह समझना चाहिए। इसीलिए संक्षेपशारीरकमें ( १।३२० ) श्रीसर्वज्ञात्ममुनिने कहा है—

'नाऽभावताऽस्य घटते वरणात्मकत्वान्नाऽभावमावरणमाहुरभावशौण्डाः।
अज्ञानमावरणमाह च वासुदेवस्तद्भावरूपमिति तेन वयं प्रतीमः॥'

यह अविद्या (अज्ञान) अभावरूप नहीं है, क्योंकि यह अधिष्ठानका आवरण करती है। आवरण करना यह अभावका काम नहीं है। अभावका परीक्षण करनेमें निपुण नैयायिकोंने अभावमें आवरणकारकता कहीं भी नहीं कही है। हमारी अविद्या तो आवरण करती है, जैसा कि श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।' ( गी० ५।१५ )
धूमेनाऽऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च॥
यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥' *(गी० ३।३८) इत्यादि।

इससे निश्चित हुआ कि अविद्या भावरूप है और वह भावरूप कार्यको उत्पन्न कर सकती है, यह वेदान्तसिद्धान्त है। और अविद्याका नाश अधिष्ठानके साक्षात्कारसे ही होता है, यह बात—

'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥' † (गी० ४।१६),

'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादि प्रमाणोंसे निश्चित है।

अब इस सिद्धान्तकी सर्वमान्यता देखिए। योगी लोग कहते हैं—

'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः' ‡ ( यो० सू० २।३ )

---

* अज्ञानसे ज्ञानके आवृत होनेके कारण प्राणियोंको मोह होता है। जैसे धूमसे वह्नि आवृत रहती है, मलसे दर्पण आवृत रहता है और उल्बसे ( खेड़ीसे ) गर्भ आवृत रहता है, वैसे ही अज्ञानसे यह ज्ञान आवृत है।

† ज्ञानसे जिनकी आत्माका अज्ञान नष्ट हो चुका है, उनका वह ज्ञान जैसे सूर्य घट, पट आदि वस्तुओंको प्रकाशित करता है, वैसे ही परब्रह्मको प्रकाशित करता है।

‡ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं। अनात्मामें आत्मबुद्धि—अविद्या, पुरुष और अन्तःकरणका अभेदभान—अस्मिता, सुखानुशयी ( सुख या सुख-

'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः' ( यो० सू० २।१२ )
'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः' ( यो० सू० २।१३ )

अविद्या से ही अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश होते हैं। यही पांच पर्ववाली अविद्या कर्माशयकी कारण है। वह कर्माशय वर्तमान अथवा आगामी जन्ममें फल देनेवाला है। अविद्याके रहते ही जन्म, आयुष्य और भोगरूप त्रिविध विपाक हो सकता है, अन्यथा नहीं। उस अविद्याका नाश विवेक-ख्याति होनेसे ही होता है 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' नामक तत्त्वज्ञान ही साक्षात् विद्याका निवर्तक है, जैसा कि कहा है—'ऋतम्भरा च तत्र प्रज्ञा' * (यो० सू० १।४८) 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' † (यो० सू० १।५०) इत्यादि।

इसी प्रकार अविद्यापदार्थका अङ्गीकार, तन्मूलक जन्म-मरण, और तत्त्व-ज्ञानसे अविद्याकी हानि इतनी बातें सांख्यमतमें भी विद्यमान हैं। जैसा कि सांख्यकारिका आदिमें कहा है—

'ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः।' ( सा० का० ४४ )
'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ‡॥' ( सा० का० ६४ )

किं बहुना, वेदान्तादिदर्शनोंमें 'वास्तवमें न कोई बद्ध है और न कोई मुक्त है, किन्तु यह रज, तम आदि गुणोंका आभास है' इत्यादिरूपसे बहुशः जैसा वर्णित है, उसीकी छाया सांख्यकारिकामें देखिए—

---

साधनोंमें तृष्णाविशेष—राग, दुःख या दुःखसाधनोंमें निन्दात्मक क्रोध—द्वेष और शरीर आदि विषयोंसे मेरा वियोग न हो, इस प्रकारकी इच्छा अभिनिवेश है।

* ऋतंभरा—कभी भी विपर्ययसे बाधित न होनेवाली प्रज्ञा तभी होती है, जब निर्मलता प्राप्त हो जाती है।

† समाधिप्रज्ञासे होनेवाला संस्कार व्युत्थान आदिसे होनेवाले संस्कारोंका प्रति-बन्धक है।

‡ उक्त क्रमसे सांख्योक्त पचीस तत्त्वोंके तत्त्वालोचनलक्षण अभ्याससे पुरुषको यह प्रकृति है, यह पुरुष है और ये पञ्चतन्मात्राएँ हैं, प्रकृत्यादि पदार्थ मैं नहीं हूँ और मेरा शरीर भी नहीं है, मुझसे और शरीर आदि भिन्न हैं इत्यादिरूप जो निरवशेष, संशयादिसे रहित विशुद्ध, केवल पुरुषमात्रविषयक ज्ञान होता है, वही ज्ञान मोक्षकारण है, यह भाव है।

'तस्मान्न मुच्यतेऽद्धा न बध्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः *।' (सा० का० ६२)

इसी प्रकार न्यायमतमें भी मिथ्याज्ञान, तन्मूलक संसार और तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञाननिवृत्ति और अपवर्गका अङ्गीकार स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है—'दुःख-जन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (गौ० सू० १।२) मिथ्याज्ञानसे ही रागद्वेष होते हैं, रागद्वेषसे प्रवृत्ति, प्रवृत्तिसे जन्म और जन्मसे ही दुःख होता है, अतः दुःखकी निवृत्तिके लिए जन्मसे छुटकारा पाना आवश्यक है, जन्मके अभावके लिए प्रवृत्तिसे मुँह मोड़ना चाहिए, प्रवृत्ति रोकनेके लिए राग-द्वेष हटने चाहिएँ और राग-द्वेषके हटनेके लिए अनात्मामें आत्मबुद्धि इत्यादिरूप मिथ्याज्ञान हटाना ही जरूरी है, क्योंकि अनात्मामें आत्मबुद्धिरूप मिथ्याज्ञानसे ही सम्पूर्ण संसारपरम्परा चलती है। उस मिथ्याज्ञानको हटानेके लिए ही 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा-हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' ( गौ० सू० १।१ ) इस सूत्रसे सोलह पदार्थोंका तत्त्वज्ञान, उनमें भी 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः-प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्' ( गौ० सू० १।९ ) इस सूत्रमें प्रतिपादित आत्मा आदि बारह प्रमेयोंका यथार्थ ज्ञान ही निःश्रेयसके लिए मुख्य कारण बतलाया गया है। इस प्रकार ऊपर निर्दिष्ट चार सिद्धान्त-स्तम्भोंमें प्रथम और चतुर्थ सकलदार्शनिकसम्मत होनेसे सर्वमान्य और विरोधरहित सिद्ध हुए। अतः इनको हम सर्वतन्त्र-सिद्धान्त कह सकते हैं, केवल प्रतितन्त्र-सिद्धान्त नहीं कह सकते।

## पदार्थमात्रका मायिकत्वसिद्धान्त

पहले हमें यह देखना आवश्यक है कि वेदान्तिसम्मत मायिकत्व कैसा है? मायिकत्व कहते ही सर्वसाधारणको आपाततः रज्जुसर्पके समान अथवा ऐन्द्र-जालिक पदार्थोंके समान अर्थक्रियाकारित्वरहित होते हुए भासमान होना ही मायिकत्वका अर्थ प्रतीत होता है। किन्तु सांसारिक सभी पदार्थ स्पष्टरूपसे अर्थ-क्रियाकारी हैं, अतः वे मायिक कैसे हो सकते हैं, ऐसा आक्षेप हो सकता है। पर

---

* कोई भी पुरुष बद्ध या मुक्त नहीं है, किन्तु देव, मनुष्य आदि योनियोंकी आश्रयभूत प्रकृति ही बद्ध और मुक्त होती है, यह भाव है।

वास्तवमें अर्थक्रियाकारित्वसे रहित होना; ऐसा मायिकत्वका लक्षण वेदान्तमें कहीं भी वर्णित नहीं है। किन्तु 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' ( ब्र० सू० ३।२।३ ) इत्यादि सूत्रसे यही कहा गया है कि जैसे स्वाप्न पदार्थ स्वप्नदशामें अर्थक्रियाकारी होनेपर भी जाग्रत्दशामें बाधित हो जाते हैं, वैसे ही जाग्रद्दशामें भासमान और अर्थक्रियाकारी पदार्थ तुरीय दशामें अभासमान और अर्थक्रिया न करनेवाले हो जाते हैं। अतः उनमें पारमार्थिक दृष्टिसे बाधितत्व और मायिकत्व है। ऐसा होनेपर भी वेदान्ती उनकी व्यावहारिक सत्ता मानते ही हैं।

दूसरी बात यह है कि जाग्रद्दशामें भी ये भूत-भौतिक पदार्थ कभी थोड़ी देरके लिए व्यक्तदशामें देख पड़ते हैं, तो थोड़ी ही देरमें अव्यक्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें हमारे मनमें यही विचार उत्पन्न होता है कि अव्यक्तदशासे ही ये पदार्थ व्यक्तदशामें आये और फिर अव्यक्तदशामें लीन हो गये, अतः अव्यक्तदशा ही इनका वास्तविक रूप है। आदि और अन्तमें अव्यक्त ही इनकी अवस्था है। केवल मध्यमें थोड़ी देरके लिए जो व्यक्तदशा होती है, वह यद्यपि अर्थक्रियाकारी और भासमान है, तथापि वास्तविक नहीं है। इसी बातको लेकर कहा है कि

'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' ( गौ० का० २। ६ )

'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत!।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥' (गी० २।२८)

'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।' ( गी० ८।१८ ) इत्यादि। इस प्रकार जाग्रद्दशाके व्यक्त पदार्थ भी तुरीयदशामें बाधित होते हैं और जाग्रद्दशामें भी अव्यक्तदशा ही पदार्थोंको आद्यन्तमें घेरे रहती है, अतः व्यक्तदशा केवल मायिक सिद्ध होती है।

अव्यक्तसे व्यक्तदशामें पदार्थोंका आना और पुनः अव्यक्तदशामें लीन होना, यही प्रकार सांख्य और योगशास्त्रमें बड़े विस्तारसे वर्णित है, अतः यह वस्तुतत्त्व उनके भी सम्मत है। सांख्योंने यद्यपि मायिकशब्दसे उनका व्यवहार नहीं किया है, तथापि केवल शब्दसङ्केतके भिन्न होनेसे वस्तुतत्त्वमें कोई अन्तर नहीं आता। केवल सांख्ययोगके कतिपय प्रतितन्त्र-सिद्धान्तोंके भिन्न होनेसे उनके मतमें परिणामवाद और वेदान्तियोंके मतमें विवर्तवाद पर्यवसन्न होता है, यह बात दूसरी है। प्रतितन्त्र-सिद्धान्तसे विरोध आनेपर भी वास्तवमें कोई विरोध नहीं समझा जाता, किन्तु सर्वतन्त्रसिद्धान्तसे विरोध न होना चाहिए।

न्यायमतमें यह बात कैसे सम्मत होती है ? यदि मायिकत्व पूर्वोक्त प्रकारसे न्याय-सम्मत न हुआ, तो यह मायिकत्व सर्वतन्त्रसिद्धान्त न हो सकेगा। अतः अब न्यायमतसे विचार करना आवश्यक है।

नैयायिक लोग आरम्भवादी हैं, अर्थात् उनके मतमें कारणोंसे अभिनव कार्यकी उत्पत्ति होती है। सांख्यमतके समान 'कार्यकी केवल अभिव्यक्ति होती है' ऐसा वे नहीं मानते, किन्तु कार्योत्पत्तिके पहले उसका प्रागभाव और कार्य नष्ट होनेपर उसका ध्वंस मानते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कार्य उत्पन्न होनेपर तो भावरूप है और आदि एवं अन्तमें वही अभावरूप हो जाता है।

अब यहां सूक्ष्मरूपसे विचार करना चाहिए कि जैसे सांख्य लोग व्यक्त होनेवाले घटकी अव्यक्तदशा मृत्पिण्डमें ही मानते हैं, तन्तु आदिमें नहीं मानते तथा व्यक्तदशाका नाश होनेपर उनके मतमें घट मृत्पिण्डमें ही अव्यक्त होता है, तन्तु आदिमें अव्यक्त नहीं होता, वैसे ही नैयायिक लोग भी घटका प्रागभाव मृत्पिण्डमें ही मानते हैं, तन्तुओंमें अथवा भूतलमें नहीं मानते और इसी प्रकार घटका ध्वंस भी घटके समवायी कारण मृत्पिण्डमें ही मानते हैं, तन्तु अथवा भूतलमें नहीं मानते। इससे यह सिद्ध ही हुआ कि सांख्य लोग आदि और अन्तमें जिस कारणमें कार्यकी अव्यक्तदशाकी स्थिति मानते हैं, नैयायिक लोग उसी कारणमें समवेत कार्यका प्रागभाव और ध्वंस मानते हैं। अतएव वायुमें रूपका प्रागभाव या ध्वंस कभी नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थितिमें चाहे प्रागभाव और ध्वंसशब्दसे व्यवहार किया जाय, चाहे अव्यक्तशब्दसे व्यवहार किया जाय, पर वस्तुतत्त्वमें कोई अन्तर नहीं आता।

दूसरी बात यह है कि प्रागभावशब्दसे जब नैयायिक लोग व्यवहार करते हैं, तब 'अभावका ज्ञान प्रतियोगीके ज्ञानके बिना नहीं होता' इस नियमसे उनको उस अभावके साथ प्रतियोगिरूपसे घटका सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा, नहीं तो व्यवहारोच्छेद एवं उनके सिद्धान्तका भङ्ग होगा। एवञ्च स्वप्रागभावदशामें भी अभावसम्बद्ध घट सिद्ध हुआ। यदि कहो कि अभी घट उत्पन्न ही नहीं हुआ, तो फिर उसका अभावके साथ सम्बन्ध कैसा ? इसका उत्तर यही है कि यही तो अव्यक्तभावापन्न घट है, जो कि प्रकटरूपसे उत्पन्न न होनेपर भी संबद्ध रह सकता है। सांख्यलोग भी तो उत्पत्तिके पहले घटको कभी व्यक्तस्वरूप नहीं मानते, किन्तु अव्यक्तस्वरूप ही मानते हैं। एवञ्च नैयायिकरीतिसे प्राग-

भाव और ध्वंसशब्दसे कहने अथवा सांख्यरीतिसे अव्यक्तशब्दसे कहनेसे वस्तु-तत्त्वमें कोई भेद नहीं आता। सांख्योंके सत्कार्यवादमें भी पूर्वमें अव्यक्त, मध्यमें व्यक्त और अन्तमें फिर अव्यक्त इतना समावेश सिद्ध ही है। उसीको नैयायिक-रीतिसे कहें, तो पहले प्रागभावदशापन्न, मध्यमें उत्पन्न और अन्तमें ध्वंससंबद्ध, इस प्रकार तीनों कालोंमें कार्यसम्बन्ध भिन्न-भिन्न रूपसे है। एवञ्च नैयायिकोंके मतमें निर्दिष्ट वस्तुतत्त्वके अपरिहार्य होनेसे मायिकत्ववाद भी सर्वतन्त्र-सिद्धान्त हो सकता है।

### कारणके साथ कार्यका अनन्यत्वसिद्धान्त

वेदान्तियोंने 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र० सू० २।१।१४) 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्यादि प्रमाणोंसे कारणके साथ कार्यका अनन्यत्व कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि कार्यदशाके व्याप्य और कारण-दशाके व्यापक होनेसे कार्यदशामें भी हम कारणदशाको देख सकते हैं, जैसा कि पटदशामें भी हम तन्तुओंको देखते हैं अथवा अँगूठीकी दशामें भी सुवर्णको देखते हैं। इसके विपरीत कारणदशामें हम कार्यदशाको नहीं देख सकते, तन्तुदशामें पटावस्था देखना अथवा सुवर्णपिण्डदशामें अँगूठी आदि कार्यावस्था देखना असम्भव है। अतएव वेदान्तमतसे हम कार्यरूप जगत्में कारणीभूत ब्रह्मकी दृष्टि कर सकते हैं, परन्तु कारणीभूत ब्रह्ममें जगद्दृष्टि नहीं कर सकते। अतएव गीतामें कहा है—

'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः'। 'भूतभृन्न च भूतस्थः' (गी० ९।४,५) इसका मतलब यह है कि मेरा अन्वय और व्यतिरेक भूतोंमें है, भूतोंका अन्वय और व्यतिरेक मुझमें नहीं हैं। जैसे मेरे रहने या न रहनेसे भूतोंकी सत्ता या असत्ता हो सकती है, वैसे भूतोंके रहने या न रहनेसे मेरी सत्ता या असत्ता नहीं हो सकती। एवञ्च भूतोंकी सत्ता मेरी सत्ताके सिवा लेशमात्र भी पृथक् न होनेसे वास्तवमें वे भूत-भौतिक हैं ही नहीं। जैसा कि कहा है—'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। ( गी० ९।५ ) 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि। इसी सिद्धान्तके आधारपर सम्पूर्ण जगत्को भगवान्से अनन्य देखने और अनन्यचित्त होकर अनन्य भक्ति करते रहनेपर अद्वैत-मन्दिरमें बैठकर सुखशान्ति स्वतःसिद्ध हो जाती है, वह यत्नसाध्य नहीं समझी जाती इत्यादि उपपन्न होता है।

सांख्यमतकी दृष्टिसे कार्य-कारणका अनन्यत्व होनेपर भी उनके मतमें भगवान् जगत्के कारण नहीं हैं, किन्तु भगवान्से अतिरिक्त प्रकृति ही जगत्कारण है। सांख्यमतमें यह प्रकृतिकारणवाद प्रतितन्त्र-सिद्धान्त है, सर्वतन्त्र-सिद्धान्त नहीं है। इसका मतलब यह है कि सांख्योंको अपने सिद्धान्तमें महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा आदि तत्त्वोंका संयम द्वारा भिन्नरूपमें साक्षात्कार कराना अभिप्रेत है। यदि वे चेतनको ही कारण मान लें, तो कारणानन्यतया संयम करनेपर महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा आदि सब जड़ पदार्थ चेतनकारणरूपसे ही भासने लगेंगे, तब तो विदेह, प्रकृतिलय इत्यादि जगत्की सिद्ध व्यवस्था अथवा ग्राह्यसमापत्ति और ग्रहणसमापत्ति इत्यादि जड़ालम्बनके भेद उपपन्न न होंगे, किन्तु जगत्में तो वे विद्यमान हैं, यही सांख्योंको तत्त्वभेद द्वारा दिखलाना अभीष्ट है, अतः यह उनका प्रकृतिकारणवाद प्रतितन्त्र-सिद्धान्त है। उसके साथ अद्वैत-सिद्धान्तका विरोध भी अविरोध ही समझा जायगा।

इसी प्रकार नैयायिकोंका परमाणुकारणवाद भी प्रतितन्त्र-सिद्धान्त है, क्योंकि 'गुणोपचये मूर्त्युपचयः' इस नियमसे परमाणुका खण्डन करके पञ्चतन्मात्रा आदिकी सिद्धि सांख्य, योग, वेदान्त आदिमें उपपत्तियोंसे तथा श्रुतिप्रमाणोंसे सिद्ध की गई है, अतः परमाणुकारणवादमें 'अपकृष्टमहत्त्वके प्रति अनेकद्रव्यत्वरूप समवेत-समवेतत्व कारण है' इस अधिकरणसिद्धान्तपर ही परमाणुकी सिद्धि नैयायिकोंने की है। अतः परमाणुकारणवाद अद्वैतसिद्धान्तका विरोधी नहीं है।

दूसरी बात यह है कि चैतन्यकारणवाद और पदार्थोंका मायिकत्व माने विना 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' इत्यादि श्रुतियां किसी भी प्रकारसे समन्वित नहीं हो सकतीं, अतएव चैतन्य ही जगत्के प्रति अभिन्न-निमित्तोपादान है। इसलिए भगवान्के सर्वप्रिय अनन्ययोगकी उपपत्ति होनेसे भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजी-का अद्वैतवाद सर्वमान्य सिद्ध होता है, इति शम्—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कीर्तयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥१॥

# गंगे !

( रचयिता—पं० बलदेवप्रसादजी मिश्र )

( १ )

मंडति चलति सिव-सीस औ हिमाचलकौ
बिघन-पखान-जूह खंडति चलति है।
दंडति चलति देव-वैरिन समोद, तिन्ह
लोक-ओक-थोकनि बिहंडति चलति है॥
चंडति प्रपंच रंच संचित सजग चाहि
दूर करि दुगुन उमंडति चलति है।
कंडति चलति दुरभाग, तीन तापन पै
ताकि कै बरुन-अस्त्र छंडति चलति है॥

( २ )

पापन समेटि देति आवागौन मेटि तुम
भेंटि छन द्वीं मैं फेंट बाँधि कै, प्रचार भौ।
कोऊ न सकात, पाप करत उमाहि चित
झूठौ ही प्रसिद्ध सब करम-विचार भौ॥
चलत न चारौ, विधि पचि-पचि हार्‌यौ, मूढ़
ह्वै गयौ, विवेक आज परम असार भौ।
एरी गंग ! याही हेत कबहुँ न तीर तव
तीन लोक जानै, कहूँ एक अवतार भौ॥

( ३ )

तुअ जल पाइ हूक धरत सुधा की नाहिं
ताके पुनि गौरव कौ गरव गहै नहीं।
कहुँ तट-पादप कौ करि बिसराम-धाम
पारिजातहूँ कौ भूलि कामद कहै नहीं॥
एरी मातु गंग ! इन कलित कछारन कौ
छनक बियोग दुखदायक सहै नहीं।
रहत निसाँक विधि हूँ कौ कहै आक-बाक
काक पाकसासन का आसन चहै नहीं॥

# श्री १०८ गो० तुलसीदासजीका सिद्धान्त

*( लेखक—साहित्यरञ्जन पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी )*

श्रीगोस्वामीजीके सिद्धान्तके विषयमें आज कल बहुत कुछ लिखा पढ़ी चल रही है, अतः अपने विचारोंको भी सर्वसाधारणके सामने प्रकट कर देनेके लिए यही समुचित अवसर है। मैं भी बहुत दिनोंसे गोस्वामीजीके ग्रन्थोंको मनोयोगके साथ देख रहा हूँ। मुझे तो श्रीगोस्वामीजीका सिद्धान्त अद्वैतपर्य्यवसायी भक्ति-मार्ग ही जँचता है—

रघुपति-भगति-बारि-छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास यह चित-बिलास जग बूझत बूझत बूझै॥ ( विनय-पत्रिका )

श्रीसनातन धर्ममें इस समय पाँच वादोंका ही प्रचार दिखलाई पड़ता है—(१) अद्वैतवाद, (२) विशिष्टाद्वैतवाद, (३) द्वैताद्वैतवाद, (४) द्वैतवाद और (५) शुद्धाद्वैत-वाद। इनमें से माया या जगत्को मिथ्या माननेवाला केवल अद्वैतवादी समाज है। अन्य वादोंने इसके सत्यत्वका स्वीकार किया है। अतः इतना ही परीक्षण कर लेना पर्याप्त होगा कि श्रीगोस्वामीजीने संसारका मिथ्यात्व स्वीकार किया है या नहीं।

यदि स्वीकार किया है, तो उनके सिद्धान्तके विषयमें सन्देह ही नहीं रह जाता है कि वह अद्वैतवाद है और यदि स्वीकार नहीं किया है, तो यह विचार करना चाहिए कि शेष चारों वादोंमें उनका मत किससे मिलता है।

## जगत्का मिथ्यात्व

(१) आनन्द-सिन्धु-मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा।
मृग-भ्रम-बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी॥
तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि चलि आयो तहाँ॥
निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्‌यौ।
निःकाज राज बिहाय नृप इव सपन-कारागृह पर्‌यौ॥ ( विनय० )

आनन्द-सिन्धु-मध्य तव बासा' कहकर जगत्को ब्रह्ममय कहा, 'बिनु जाने कस मरसि पियासा' कहकर अज्ञानको दुःखका कारण बतलाया, 'मृग-भ्रम-बारि सत्य जिय जानी' कहकर जगत्को मिथ्या कहा, 'निज सहज अनुभव रूप' को

'निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख' कहकर ब्रह्म-जीवका अभेद कहा और 'नृप ज्यौं स्वपनकारागृह पर्‌यौ' कहकर बन्ध कहा। अब इससे स्पष्ट अद्वैतवादका प्रतिपादन और कैसे हो सकता है?

(२) रजत सीप महँ भास जिमि, यथा भानुकर बारि।
जदपि मृषा तिहुँ कालमहँ भ्रम न सकै कोउ टारि॥
येहि विधि जग हरि आश्रित रहई।
जदपि असत्य देत दुख अहई॥ ( रामचरितमानस )

जैसे ( रात्रिके मन्दान्धकारमें ) सीपमें चाँदी भासती है और जैसे ( दिनमें दोपहरके समय ) सूर्य्यके किरणोंमें जल भासता है, वह तीनों कालमें मिथ्या है, परन्तु सीपमें चाँदी और सूर्य्यके किरणोंमें जलका भ्रम किसीके हटाये नहीं हटता, वैसे ही जगत् भी हरि ( ब्रह्म ) के आश्रित है, तीनों कालमें असत्य है, पर दुःख देता है, यह उक्ति भगवान् शङ्करकी साक्षत् गिरिजानन्दनीके प्रश्नके उत्तरमें है, इसे पूर्वपक्ष भी नहीं कह सकते। इसमें बार-बार जगत् मिथ्या और ब्रह्म सत्य कहा गया है।

(३) मृगतृष्णा सम जग जिय जानी।
तुलसी ताहि संत पहिचानी॥ ( वैराग्यसंदी० )

संसारको मृगतृष्णा जैसा जाने। भाव यह है कि दिखाई तो यह ऐसा पड़ता ही रहेगा, पर जो मनसे इसे मृग-जलकी भाँति मिथ्या निश्चय कर ले, वही सन्त है।

(४) जग नभ-बाटिका रही है फल फूलि रे।
धूआँ कैसे धौरहर देखि तू मत भूलि रे॥ ( विनय० )

यहाँ संसारको आकाशकी फुलवारी कहकर अजातवाद कहा, धुवाँका धौरहर कहकर निस्तत्त्व कहा।

(५) ज्ञान कह अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकाश।
निर्गुन कहै जो सगुन बिनु सो गुरु तुलसीदास॥

यहाँ अद्वैतवादके भी सिरेका सिद्धान्त अजातवाद कहा। इस भाँति सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि श्रीगोस्वामीजीका सिद्धान्त अद्वैतवाद ही था, तथापि वे भक्त थे। भक्ति अद्वैतमार्गकी वैरिन

नहीं है। भेदासहिष्णुता भक्तिमार्गकी एक अद्भुत विशेषता है। इसीसे शुद्धाद्वैतवादियोंको जीव और ब्रह्ममें तत्त्वतः अभेद स्वीकार करना पड़ा।

व्यवहारदशामें विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत भक्तोंकी भावनाके अनुसार सभी ठीक हैं। गोस्वामीजी खण्डन-मण्डनके पीछे कभी नहीं पड़ते। यथास्थान सबका आदर करते हैं—

जेहि के हृदय भगति जस प्रीती। प्रभु तहँ प्रकट सदा तेहि रीती॥

अद्वैतसिद्धान्त मानते हुए भी ज्ञानमार्गको अतिदुर्गम मानकर स्वयम् भक्तिमार्गका आश्रवण करते हैं और दूसरोंको भी भक्तिमार्गका आश्रयण करनेका ही उपदेश देते हैं। कर्मसे चित्तशुद्धि होना दुर्घट समझते हैं—

मल कि जाइ मलैं के धोए।
घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए।

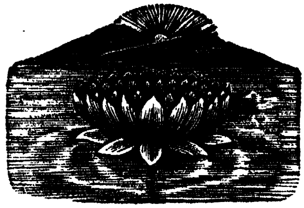
उनका सिद्धान्त है कि भक्तिके बिना चित्तशुद्धि हो नहीं सकती—

प्रेम-भगति बिनु सुनु खगराई।
अभ्यन्तरमल कबहुक जाई॥ और

रघुपति-भगति-बारि-छालित चित
बिन प्रयास ही सूझै।

तुलसिदास यह चित-बिलास जग
बूझत बूझत बूझै॥

अतः अद्वैतपर्य्यवसायी भक्तिमार्ग ही श्रीगोस्वामीजीका सिद्धान्त है।



# अरे मन तू क्या वस्तु है ?

( लेखक—पण्डित नित्यानन्द पाण्डेयजी बी० ए०, एल्० एल्० बी० )

अरे मन ! तू राज्यके बिना राजा बना देता है, द्रव्यके बिना धनी बना देता है, राजाको रङ्क कर देता है, कामीको विषयोंके अभावमें भी उनका अनुभव करा देता है, आकाशमें महल बना देता है, कहाँ तक कहा जाय ? अभूतपूर्व वस्तुओंको उत्पन्न कर देता है। इतना ही नहीं, यदि तू शुद्ध हो गया, तो पुरुषार्थ प्राप्त करा देता है, यदि अशुद्ध हो गया, तो बड़े-बड़े विद्वानोंकी अधोगति कर देता है।

अरे मन ! तेरी उत्पत्ति कहाँसे है ? तुझमें क्या शक्ति है ? तेरी वृद्धि और ह्रास किस प्रकार होते हैं ? क्या तू वशमें हो सकता है ? क्या तुझे त्याग देना चाहिए या तेरा अनुगामी हो जाना चाहिए ? तेरा क्या स्वरूप है ? तू क्या वस्तु है ? इस प्रकारके प्रश्न कल्याणमार्गके पथिकोंको हल करने पड़ते हैं।

मनका उपादान पाँच महाभूतोंका सत्त्वगुण है। थोड़े शब्दोंमें सब प्रश्नोंका उत्तर यह हो सकता है कि सत्त्वसे विजातीय रजोगुण और तमोगुणका असर मनपर न हो। किन्तु इतनेसे मनका वास्तविकरूप समझमें नहीं आवेगा। तत्त्वोंकी संख्यामें विवाद होते हुए भी यह निर्विवाद है कि मन एक तत्त्व है। यह इन्द्रियोंसे सूक्ष्म है *। मनका मुख्य कार्य संकल्प-विकल्प करना है, किन्तु श्रुतिके अनुसार इसके कई रूप हैं। "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" ( काम, सङ्कल्प, स्नेह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि, भय ये सब मन ही हैं )।

यदि मन अपना कार्य न करे तो इन्द्रियाँ कुछ काम नहीं कर सकतीं; अर्थात् मनसे सम्बन्ध हुए बिना न कान सुन सकते हैं, न आँखें देख सकती हैं और न अन्यान्य इन्द्रियोंसे कोई कार्य बन सकता है। इस विषयका एक शास्त्रीय दृष्टान्त है—कोई इषुकार ( बाण बनानेवाला ) ध्यानपूर्वक बाण बना रहा था। उसके सामनेसे किसी राजाकी चतुरंगिणी सेना कोलाहल करते निकली। ऊँट और हाथियोंने कहीं-कहीं वृक्षोंकी डालियाँ भी तोड़ डालीं थीं। सेनाके चले जानेपर थोड़ी देरके बाद उस इषुकारसे पूछा गया कि सेना किस

---

* इन्द्रियेभ्यः परं मनः। गीता ३।४२

ओर गई है। उसने कहा—मेरा मन बाण बनानेमें लगा था, मैंने न कुछ देखा और न कोई शब्द सुना। श्रुति भी कहती है—'अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्', (बृ० १।५।३) 'मनसा ह्येष पश्यति मनसा शृणोति' इत्यादि।

इस विवेचनसे सिद्ध होता है कि इन्द्रियोंका प्रेरक मन है और यह भी समझमें आ जायगा कि केवल इन्द्रियोंके निरोधसे मनका निरोध नहीं होता*। वह इन्द्रियोंके बिना भी सुख-दुःखका भोग कर सकता है। उसमें यह शक्ति है कि वह न केवल सुख-दुःखकी कल्पना करता है, किन्तु इन्द्रियोंकी भी कल्पना कर लेता है। इसी कारण यद्यपि स्वप्नमें इन्द्रियां नहीं हैं, तथापि मन सब इन्द्रियोंको रचकर भोग करा देता है।

अतः यह सिद्ध है कि इन्द्रियोंका संचालक मन है। ऐसी अवस्थामें यह स्पष्ट है कि मनपर अपना अधिकार जमाना पुरुषार्थ है। किन्तु यह पुरुषार्थ सिद्ध करना कोई मामूली बात नहीं है। इस कारण मनके विषयमें अधिक विचार करनेकी आवश्यकता है। प्रथम यह देखना है कि मनकी वृद्धि और ह्रास कैसे होते हैं? इसका उत्तर एक शब्दमें यह है कि यह अन्नसे बनता है। इसीका दृष्टान्त छान्दोग्य-उपनिषद्‌में† इस प्रकार दिया गया है—शिष्य गुरुके उत्तरको ग्रहण न कर सका तब गुरुने उसको आज्ञा दी कि पन्द्रह दिन तक भोजन न कर मेरे पास आना। इस अवकाशके पीछे गुरुने शिष्यसे कहा—तुमको सब वेद कण्ठ हैं अमुक ऋचा तो सुनाओ। शिष्यने कहा इस समय मुझे कोई ऋचा स्मरण नहीं आती। गुरुने कहा—अब भोजन कर लो दूसरे दिन आना। शिष्यने दूसरे दिन भोजनके उपरान्त सम्पूर्ण वेद कंठ सुना दिया। छान्दोग्य-उपनिषद्‌में स्पष्टरूपसे कहा है—‡ 'अन्नमयं हि सोम्य मनः' (६।५।४)। अब यह निश्चय हो गया कि मनके वृद्धि-ह्रासका प्रधान कारण अन्न है। यहाँ यह भी कह देते हैं कि कारणके गुण कार्यमें अवश्य आ जाते हैं। इससे

---

* कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ गी० ३।६

( जो मूढ कर्मेन्द्रियोंका संयम कर मनसे इन्द्रियोंके भोग्य पदार्थोंका स्मरण करता रहता है वह मिथ्याचार कहा जाता है। )

† छा० उ० ६।७ सम्पूर्ण।

‡ हे सौम्य! मन अन्नमय है।

यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसा ही उसका मन हो जाता है। इसी कारण सत्त्वगुणवर्धक * अन्न खाना चाहिए। इतना ही नहीं, किन्तु शुद्ध स्थानमें, शुद्ध पात्रमें और शुद्ध पुरुष द्वारा ( जो अपने समान या अपनेसे उच्च वर्णका हो ) पकाया गया अन्न खाना चाहिए। धर्मशास्त्रमें यहांतक कहा है कि एक पंक्तिमें बैठकर भोजन नहीं करना चाहिए † । ऐसी अवस्थामें पाक बनानेवालेके गुणदोषोंका कितना महत्त्व है, इसको पाठक स्वयं विचार लें।

अन्नके सिवा मनकी वृद्धिमें अर्थात् स्थूल होनेमें अन्य भी कारण योगवासिष्ठमें ‡ बतलाये हैं—अनात्मपदार्थमें आत्मबुद्धि करनेसे, स्थूल शरीरमें दृढ़ अहंभावसे और स्त्री-पुत्र-कुटुम्बमें आसक्तिसे चित्त स्थूलताको प्राप्त होता है। अहंकारकी वृद्धिसे, ममतारूप मलके संसर्गसे, 'यह, मेरा' इस भावका उदय होनेसे मन स्थूलताको प्राप्त होता है। केवल देखनेमात्रसे रमणीय स्नेहसे, धनके लोभसे और मणि, मुक्ता तथा स्त्रीकी प्राप्तिसे चित्त स्थूलताको प्राप्त होता है। दुराशारूप दूध पीनेसे, भोगरूप वायुके बलसे, संसारकी वस्तुओंमें आस्था रखनेसे और उनके प्रचारसे चित्त स्थूलताको प्राप्त होता है। शारीरिक और मानसिक चिन्ताओंके विकाससे, संसारमें विश्वास रखनेसे और यह ग्रहण

---

* गी० १७।८, ध्यान रखनेकी बात यह है कि अन्न न्यायोपार्जित हो।

† 'एकपङ्क्त्युपविष्टानां दुष्कृतं यद्दुरात्मनः।
सर्वेषां तत्समं तेषां यावत्पङ्क्तिर्न भिद्यते ॥' गोभिलः ॥

(जब तक पंक्ति-भेद न किया जाय तब तक पापीमें जो पाप रहता है वह एक पंक्तिमें बैठकर भोजन करनेवाले सब लोगों को समान भागमें प्राप्त होता है, अतः सर्वसाधारणके साथ एक पंक्तिमें बैठकर भोजन करना ठीक नहीं है।)

श्रुति भी यह कहती है—'आसहस्रात् पङ्क्तिं पुनन्ति' ( तै० आरण्यक)

‡ 'अनात्मन्यात्मभावेन देहभावनया तथा।
पुत्रदारैः कुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ॥
अहंकारविकारेण ममतामललीलया।
इदंममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥
स्नेहेन धनलोभेन लाभेन मणियोषिताम्।
आपातरमणीयेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥
दुराशाक्षीरपानेन भोगानिलबलेन च।
आस्थादानेन चारेण चित्तादिर्याति पीनताम् ॥
आधिव्याधिविलासेन समाश्वासेन संसृतौ।
हेयादेयविभागेन चेतो गच्छति पीनताम् ॥'

करने योग्य है और यह त्यागने योग्य है—ऐसे विभागसे चित्त स्थूलताको प्राप्त होता है। इस प्रकार मनके वृद्धि-ह्रासके कारण कहे गये हैं।

अब यह विचार करना चाहिए कि मन क्या वस्तु है?

शास्त्रकारोंका मत है कि मन जतु ( लाख ) के समान है। जैसे गले हुए लाखमें जो रंग मिला दिया जाय, वह वैसा ही हो जाता है या जैसे तांबा गलाकर सांचेमें डाल दिया जाय, तो वह सांचेके आकारका हो जाता है, इसी प्रकार मन जिस वस्तुको विषय करता है उसीके रंग और रूपका बन जाता है* ।

ऐसी अवस्थामें वे उपाय सर्वथा उपादेय हैं, जिनसे मन सदा अपने अनुकूल बना रहे। जिनका मन वशमें है वे जो चाहें उसे प्राप्त कर सकते हैं। योग-वासिष्ठमें इन्दुके पुत्रोंका इतिहास है कि उन्होंने अपने लिए पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्डोंकी रचना की थी और प्रत्येक ब्रह्माण्डके वे अलग-अलग ब्रह्मा थे। इस ब्रह्माण्डको भी, जिसमें हम हैं, ईश्वरने केवल अपने संकल्पसे रचा है और जब तक उसका सङ्कल्प है तब तक यह ऐसा ही रहेगा।

ऊपरके कथनसे यह सिद्ध हो गया कि मन जिस विषयको ग्रहण करता है, उसीके आकारका बन जाता है; तब हम निस्सङ्कोच कह सकते हैं कि मन भगवान्‌के सगुण अथवा निर्गुण स्वरूपोंमें से जिसका ध्यान करेगा, उसीके आकारका हो जायगा। इसी प्रकार यह न्याय है कि मरते समय मनुष्य जिस भावका ध्यान करता है, उसी योनिमें उसका जन्म होता है† ।

किन्तु मनको ऐसा बनाना कठिन है। मनका स्वभाव चञ्चल है‡ । यही नहीं, किन्तु यह मल, आवरण और विक्षेपसे युक्त है। ये दोष केवल इसी जन्मके

---

* पञ्चदशी ४।२७ इत्यादि।

† अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरं।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥ ( गीता० ८।५,६ )

(जो पुरुष अन्तकालमें मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है वह मेरे भाव को प्राप्त होता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। हे अर्जुन, अन्त समयमें जिस जिस पदार्थका स्मरण करता हुआ पुरुष शरीरको छोड़ता है, सदा उस पदार्थकी वासनासे वासित वह उसी भाव को प्राप्त होता है।)

‡ ( गीता० ६।३५ )

नहीं हैं, किन्तु असंख्य जन्मोंके हैं। मनमें ऐसे विकल्प उठते हैं जिनका इस जन्मसे कोई वास्ता नहीं हो सकता। स्वप्नके दृष्टान्तसे यह बात ठीक समझमें आ जायगी। यह विद्वत्सम्मत है कि स्वप्नमें जो विषय देखे जाते हैं, वे अनुभूत होते हैं और जिन विषयोंका कभी अनुभव नहीं हुआ, वे नहीं देखे जाते। यदि वे भी देखें जायँ, तो समझना चाहिए कि वे पूर्वजन्मके अनुभूत विषय हैं, इससे अन्य कल्पना नहीं हो सकती। यदि कोई कहे कि स्वप्नमें असम्भव विषय— 'अपना सिर कटना' या 'पर्वतकी चोटी पर समुद्र' आदि— किस प्रकार देखे जाते हैं ? इसका समाधान यही है कि स्वप्नमें अपना सिर कटा हुआ देखने वालेने कभी किसीका सिर कटा देखा है और पर्वतवासीने कहीं समुद्र देखा है, अतः निद्रा आदि दोषसे वह असंभव वस्तुको स्वप्न में देखता है। इससे अन्य समाधान प्रश्न करनेवाला भी नहीं कर सकता है।

इससे यह स्पष्ट है कि मनमें अनेक जन्मोंके संस्कार भरे पड़े हैं। इनको वासना कहते हैं। वासनाका स्वरूप इस तरह समझना चाहिए—पूर्वापर विचार किये बिना अकस्मात् अन्तःकरणमें उठी हुई क्रोधादि वृत्तियोंका हेतुरूप जो चित्तगत संस्कार है, उसे वासना कहते हैं। पूर्व-पूर्वके अभ्यास द्वारा चित्तमें संस्कार स्थित होते हैं, अतएव वे वासना कहलाते हैं। जब तक वासना बनी रहती है, तब तक मनका निग्रह नहीं हो सकता।

इन्हीं वासनाओंको मल समझना चाहिए। इस मलको धोनेका उपाय निष्काम वैदिक कर्म करना है। एक दूसरा उपाय यह है कि अशुद्ध वासनाको शुद्ध वासनासे हटा देना चाहिए। पातञ्जल योगदर्शनके १।३३ सूत्रमें शुद्ध वासनाओंका इस प्रकार वर्णन किया है—'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' (सुखीमें मैत्री, दुःखीमें करुणा, पुण्यवान्‌में मुदिता और पापीमें उपेक्षाकी भावनासे चित्तको प्रसन्न करना चाहिए)।

आवरण और विक्षेपका स्वरूप रज्जु-सर्पके दृष्टान्तसे समझमें आ जायगा। किसी मनुष्यने एक रस्सीका टुकड़ा जमीनमें पड़ा हुआ देखा। उसको किसी कारण उस समय रज्जुका ज्ञान नहीं हुआ, किन्तु उसमें सर्पका भान हुआ—यही आवरण है। तब वह पुरुष कम्प आदिसे युक्त होकर भागा—इसीको विक्षेप कहते हैं। जब उसे किसीके कहनेसे मालूम हुआ कि वह तो रस्सी है, तब उसका विक्षेप दूर हो जाता है और रस्सीको स्वतः देखनेसे आवरण भी चला जाता है।

इसी प्रकार मनुष्य अज्ञानसे अपने वास्तविक निर्विकार कूटस्थ स्वरूपको न जानकर कहता है—'मैं कूटस्थको नहीं देखता हूँ', 'कूटस्थ है ही नहीं' यही आवरण है। फिर वह कहता है कि मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी और दुःखी हूँ, यही विक्षेप है। उपासनासे विक्षेप दूर हो जाता है। इसी कारण भक्तिका इतना महत्त्व है। किन्तु मल और विक्षेपके दूर होनेपर भी मन अपनी चञ्चलता नहीं छोड़ता, क्योंकि जिस समय उपासना या शुद्ध वासनाका प्रयोग कम होता है, मनका फिर राज्य हो जाता है। यही कारण है कि शास्त्रकारोंने चञ्चलताको दूर करनेके लिए इतना महत्त्व दिया है। चञ्चलता दूर हुई कि आवरण भी नष्ट हुआ।

चञ्चलता दूर करनेका सर्वसम्मत उपाय अभ्यास और वैराग्य है*। वैराग्यका स्वरूप यह है कि इस लोक तथा स्वर्गादि अन्य लोकोंके विषयोंमें दोष दृष्टिसे जिहासा रखना†। किसी महानुभावका कथन है कि विषयोंको वमन किये हुए अन्नके समान देखना—वैराग्यका लक्षण है। यह विषय अधिक गहन नहीं है, इस कारण इसपर अधिक नहीं लिखा जाता।

अभ्यासके विषयमें कई प्रकारके मत हैं—वे सभी ठीक हैं। इसमें निर्णय यही है कि जिसको जो मत गुरुकृपासे प्राप्त हो जाय, वही अच्छा है।

सबसे सरल राजमार्ग तो भगवच्चरणारविन्दका ध्यान करते रहना ही श्रेष्ठ अभ्यास है। भगवद्गीतामें कहा है—

'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥*' गी० ९।२२

---

* गीता ६।२५; पातञ्जल यो० द० १।१२

† पातञ्जल योग० द० १।५ तथा—

'दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता।
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी॥' पञ्चदशी ६।२८

(सांसारिक विषयोंमें दोष देखना, विषयोंके त्यागकी इच्छा और भोगोंके अधीन न होना ये तीनों क्रमशः वैराग्यके असाधारण हेतु, स्वरूप और कार्य हैं।)

* अनन्य भावसे मेरा चिन्तन कर रहे जो पुण्यात्मा लोग मेरी उपासना करते हैं, मैं सदा मेरा ध्यान करनेवाले उन भक्तोंका योग (अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तुकी रक्षा) करता हूँ।

पातञ्जल योगदर्शनमें भी भगवद्भक्तिको अष्टाङ्गयोगके समान समाधिका साधन बतलाया है‡। वेदान्तमतमें यह माना गया है कि 'कृतोपास्ति' मुमुक्षुका पतन नहीं होता है। इस कारण भक्तिके विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

अभ्यासका अर्थ योगवाले अष्टाङ्गयोगको बतलाते हैं। इसकी प्रक्रिया वे ही जानें जिनको गुरु मिल गये हों। यद्यपि हम इस विषयमें कुछ नहीं कह सकते हैं तथापि हमने महानुभावोंसे सुना है कि योग-जन्य-समाधिमें केवल योगकालमें मनका निरोध होता है और केवल निरोधसे विशेष लाभ नहीं होता। निरोधकी अवस्थामें भी सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्मका ध्यान करना ही पड़ता है।

वेदान्तके मतमें अभ्यासका अर्थ अध्यात्म-विद्याका प्राप्त कर लेना है अर्थात् दृश्यका मिथ्यापन और द्रष्टाकी स्वयंप्रकाशताका निश्चय करके उसमें स्थित रहना है। ऐसा करनेपर यह मन अपना विषय दृश्य पदार्थ, जिसका अध्यात्म-विद्यासे मिथ्यारूप निश्चय किया है, उसके प्रति नहीं जायगा और जैसे काष्ठके जलनेके उपरान्त अग्नि स्वयं शान्त हो जाती है, वैसे ही मन स्वयं शान्त हो जाता है। श्रुति भी कहती है—

'यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥'* (मै० उ० ६।३४)

( यहां 'योनि' शब्दका अर्थ 'आत्मा' करना चाहिए )

पाठक इस उपर्युक्त विवेचनसे समझ जायँगे कि मनके चञ्चल स्वभावको दूर करना कितना कठिन है। इसी चञ्चल स्वभावको दूर करना आवरणको हटाना है। अर्थात् ज्ञानसे आवरण दूर होता है।

जिनके मनके मल, विक्षेप और आवरण दूर हो गये हैं, उन ब्रह्मज्ञानियोंको हम नमस्कार करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वे हमारे ऊपर अनुग्रह करें।

---

‡ ईश्वरप्रणिधानाद् वा ( यो० सू० १।१३ )

* जैसे काष्ठरहित अग्नि सूक्ष्मभूतरूप अपने कारणमें लीन हो जाती है, वैसे ही वृत्तिके क्षीण होनेसे चित्त अपने अधिष्ठानभूत आत्मामें लीन हो जाता है।

# परमात्मविज्ञान

*(लेखक—विद्यामार्तण्ड पं० सीतारामशास्त्रीजी, प्रधानाध्यक्ष ब्रह्मचर्याश्रम, भिवानी)*

'रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः ॥'
श्रीमद्भागवत ( १०।३।२४ )

परमात्मा एक ऐसी वस्तु है, जिसकी जिज्ञासा मनुष्यमात्रको होती है। आस्तिक, नास्तिक, ज्ञानी सभी उसको जानना चाहते हैं। आस्तिक लोग भाव-भक्तिसे उसकी कृपाके इच्छुक होकर उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं, तो नास्तिक प्रतियोगिभावसे और ज्ञानी तत्त्वज्ञानके द्वारा तद्रूपकी प्राप्तिके लिए उसकी ओर प्रवृत्त होते हैं। कैसा भी उदासीन पुरुष क्यों न हो किसी अतिप्रसिद्ध वस्तुको देखने या जाननेके लिए उत्सुक हो ही जाता है। ठीक ऐसी ही दशा हमारे लक्ष्य परमात्माकी भी है। अतएव सर्वजन द्वारा आकाङ्क्षित इस परमात्मवस्तुपर यथा-साध्य अन्वेषण-विवेचन होना आवश्यक ही है।

हमारा ऊपर दिया हुआ प्रमाणवाक्य घोषणा करता है कि जिस प्रकार घरका दीपक घरकी घट, पट आदि वस्तुओंको प्रकाशित करता है और अपने आपको भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार परमात्मतत्त्व भी अध्यात्मदीप है, प्रत्येक जन तथा प्राणीके अपने-आपेमें ही गृहदीपकके समान प्रकाशित हो रहा है। ऐसी दशामें अपने गृहमें जगमगा रहे दीपकको बाह्य संसारमें खोजते या पूछते फिरनेवाले मनुष्यकी जैसी दशा होती है, ठीक वही दशा सकल जिज्ञासु जनोंकी है। इस कारण उपरि लिखित प्रमाणवाक्य उक्त जिज्ञासुओंका उपहास-सा कर रहा है, क्योंकि वह प्राणिमात्रका साक्षात् होनेपर भी अज्ञात वस्तुके समान सकल लोककी जिज्ञासाका विषय हो रहा है। आश्चर्य है।

हमारा प्रमाणवाक्य कहता है, हमारे आपेमें बहुसंख्यक पदार्थोंकी प्रदर्शनी खुली हुई है। उस प्रदर्शनीका प्रकाशन उसी अध्यात्मदीपसे हो रहा है। नेत्रकी क्रियापर ध्यान देते हैं, तो उसीकी प्रेरणासे वह खुलता-मुँदता है, कान, नाक, जीभ आदि उसीसे परिचालित होते हैं। उसीकी आज्ञासे पैर चलनेका और हाथ ग्रहण करनेका कार्य करते हैं। नख-शिखसे लेकर जो कुछ भी शरीरके

अभ्यन्तरमें है, उसके आदेशके बिना टस-से-मस नहीं हो सकता। स्वयम् अधिष्ठाता बनकर सब कुछ कर रहा है—मैं देखता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं पकड़ता हूँ, मैं उठता हूँ, मैं बैठता हूँ, मैं सोता हूँ, मैं जागता हूँ, मैं नाना प्रकारकी सृष्टि करता हूँ, मेरे हाथ, मेरे पैर, मेरा सिर और मेरे ही नेत्र आदि सब अङ्ग हैं, सकल शरीर मेरा ही है, मैं इस सबका अधिष्ठाता हूँ, मेरा ही इन सबपर अधिकार है, मैं जो चाहता हूँ इनपर शासन करता हूँ, मेरी आज्ञाके बिना इस शरीरका रोम भी नहीं हिल सकता, ऐसा जानता हुआ भी उसको पूछता ही फिरता है, इससे अधिक और क्या आश्चर्य होगा ?

प्रमाणवाक्य कहता है—स्वयं अपनेको अपनेसे न्यारा देखना चाहता है, देश-विदेशमें उसीको जाननेके लिए महात्माओंके सत्संगके लिए दौड़ता है, पर्वतोंकी गुफाओंमें नेत्र बन्द करके समाधिमें देखनेकी चेष्टा करता है, गीता, भागवत आदि नाना सच्छास्त्रोंको घूर-घूरकर देखता है फिर भी उसको प्राप्त न होकर मोहित होता है, संशयग्रस्त होता है। कहां खोजूँ ? कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? कौन सद्गुरु है ? इत्यादि व्यामोह करता है। क्या यह थोड़े अचम्भेकी बात है ?

प्रमाणवाक्य कहता है—तुम जिसको पूछते फिरते हो, वही तो तुम हो। वह आध्यात्मदीप है, स्वयम् अपना प्रकाश आप ही कर रहा है। उसके लिए क्या कष्ट है, वह स्वयम् सर्वत्र प्राप्त, स्वयंलभ्य और स्वयंप्रकाश है।

वह अव्यक्त है, स्थावर और जङ्गम जगत्के समान व्यक्त या स्थूल नहीं है, क्योंकि वह सब कार्यमात्रका कारण है, अर्थात् सब जगत्से प्रथम होनेके कारण ही वह अव्यक्त है। जगत्से पहले रहनेवाली वस्तुको कौन और किस तरह देखे। वह परमाणु भी नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्म—बृहत् है। एवं बृहत् होनेपर भी वह प्रधान नहीं है, क्योंकि ज्योतिःस्वरूप—चेतन है, तथा वैशेषिक आचार्योंके संमत तत्त्वके समान गुणवाला भी नहीं है, क्योंकि वह निर्गुण है—उसमें कोई गुण नहीं है। उसी प्रकार मीमांसकोंके सम्मत तत्त्वके समान ज्ञानपरिणामी भी नहीं है—ज्ञानरूपसे परिणत होनेवाली वस्तु भी नहीं है, क्योंकि वह निर्विकार है—उसमें कोई विकार नहीं होता। ऐसे ही पुष्कराक्ष आदि आचार्योंके सम्मत तत्त्वके समान शक्तिविक्षेपरूपसे परिणत होनेवाला भी नहीं है, क्योंकि वह सत्तामात्र है—'है' ऐसी ही उसकी प्रतीति होती है, उसमें किसी प्रकारके परिणामकी संभावना नहीं है।

ऐसी अवस्थामें उसको सामान्य या जातिरूप भी न समझना चाहिए। क्योंकि सामान्यके अन्तर्गत विशेष धर्म भी होता है। जैसे—वैशेषिकदर्शनमें द्रव्यत्व एक सामान्य है तो उसके अन्तर्गत पृथिवीत्व आदि विशेष धर्म भी होते हैं, किन्तु उसमें पृथिवीत्व आदि धर्मके समान कोई विशेष धर्म नहीं है। इसी प्रकार जो वस्तु कारणरूप होती है, वह क्रियायुक्त होकर ही किसी कार्यको उत्पन्न करती है, इस कारण यदि वह परमात्मा जगत्का कारण है, तो उसमें क्रियाका सद्भाव होना चाहिए, किन्तु वह निरीह है उसमें कारण होनेपर भी कोई क्रिया नहीं है। वह जगत्को इस प्रकारसे उत्पन्न करता है, जिस प्रकार कुसुमलता दर्शनमात्रसे दर्शकको सुख उत्पन्न करती है, किन्तु उस कार्यके लिए उसमें कोई क्रिया नहीं होती। सर्वथा वह सर्वजगत्से विलक्षण है, उसकी पहचान अध्यात्मदीपन धर्मसे ही है। अध्यात्म वस्तुओंका प्रकाशन उसका असाधारण कार्य और लक्षण है। जिसको उसकी जिज्ञासा हो, वह अध्यात्म-चिन्तनसे अपने-आपमें ही उसे पा सकता है, अन्यथा नहीं।



ब्रह्मीभूत पूज्यपाद श्री १०८ अच्युत मुनिजी महाराज

# श्रद्धाञ्जलिः

अद्वैत-वेदान्त एवं शब्दशास्त्रके अगाध विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ गङ्गातीरनिवासी अच्युत मुनिजी महाराजसे 'अच्युत' के पाठक अपरिचित नहीं हैं। मुनिजीने अपने पुण्यमय जीवनमें अनेक भूले-भटकोंको सन्मार्ग दर्शाया, वेदान्तके गूढ़ तत्त्वका, अत्यन्त सरलतासे, उपदेश देकर अनेकोंका जीवन सफल किया और अनेकोंको भगवदुपासनाकी ओर प्रवृत्त किया। आपका ज्ञानमय हृदय भगवद्भक्तिसे परिप्लावित था भगवान्के पुनीत चरितोंके स्मरण एवं श्रवणसे आपका हृदय गद्गद हो जाता और नेत्रोंसे आसुओंकी झड़ी लग जाती थी। इतने दिन बीतनेपर भी आपका वह दिव्य चित्र सदा दृष्टिके सामने ही प्रतीत हो रहा है। आपकी दैनिकचर्या और चरित भी उपदेशमय ही थे, केवल आपके संसर्गमात्रसे ही बहुतसे साधारण पुरुष सन्त बन गये हैं। 'अच्युत' आप ही के नामका स्मारक है।

मुनिजी अब हम लोगोंके चर्म-चक्षुओंके गोचर नहीं हैं। वे अनेक वर्षों तक लगातार संसारको वेदान्त-सुधाका पान एवं भगवद्भक्तिका रसास्वाद कराकर विगत वर्ष पौषकृष्ण २ गुरुवार सं० १९९२ तदनुसार १२ दिसम्बर १९३६ को भागीरथीके विमल सलिलसे सतत परिपूत ब्रह्मविद्याके मननसे परिशोधित नश्वर पाञ्चभौतिक शरीरका, निर्वाणधाम काशीपुरीमें भगवान् श्रीविश्वनाथजी-के समक्ष ज्ञानवापीपर, त्याग कर ८५ वर्षकी अवस्थामें ब्रह्मीभूत हो गये हैं।

इन पंक्तियोंके लेखकको भी कुछ दिन ( लगभग १ मास ) मुनिजीकी पुण्यसन्निधिमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन दिनों मुनिजीकी चलती फिरती कुटिया कर्णवासके पास भागीरथीके तीरपर लगी थी। अहा क्या आनन्द

था ! हिमशुभ्र बालुकामय भागीरथीतीरके एक ओर पतित-पावनी कल्मष-हारिणी गङ्गाजीकी विमलधारा बहती थी और दूसरी ओर चित्तपावनी अज्ञान-नाशिनी ज्ञानधारा बहती थी। मुनिजी इस तरह वेदान्ततत्त्वोंका उपदेश करते थे कि बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, विद्वान् और मूर्ख सभीको एक-सा आनन्द मिलता था। गूढ़से गूढ़ विषयको लौकिक दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट करके सर्वसाधारणके हृदयङ्गम करा देनेकी मुनिजीमें एक अलौकिक शक्ति थी। उनके सामने तर्क-वितर्क ठहर ही नहीं सकते थे। शान्ति और प्रसन्नमुखमुद्रासे कठिनसे कठिन प्रश्नोंका सरलसे सरल रीतिसे समाधान सुन लीजिए।

बालकोंका-सा विशुद्ध स्वभाव, एकाग्र दृष्टि, एकान्त प्रेम, उपदेशकुशलता, शास्त्रोंपर अटल निष्ठा, अचल हरिभक्ति, सदा गङ्गाजीके अंकमें निवास इत्यादि मुनिजीके अनेक गुणगण चित्तको आज भी आनन्दित कर रहे हैं। पर अब मुनिजीका वह दिव्य-दर्शन कहाँ ? अब तो केवल श्रद्धाञ्जलि देकर ही चित्तको सान्त्वना देनी होगी—

## [ १ ]

*शाब्दे शेषसमो नृवन्द्यचरणस्तर्केऽपरो गौतमः*
*वेदान्तेषु हितेषु शङ्करनिभः सर्वाश्रमाणां गुरुः ।*
*ध्यायन् योऽमरनिम्नगातटभुवि ज्योतिः परं शाश्वतं*
*तत्रैवाऽऽप लयं प्रपाय्य शतशो वेदान्तविद्यां सुधाम् ॥१॥*

*शान्तिं तां नरदुर्लभां हरिपरां दृष्टिं च तां स्थेयसीं*
*दिव्यं तद्वचनामृतं स्मितयुतं तां देशनाचातुरीम् ।*
*भक्त्या पूर्णमुदारमुज्ज्वलतमं स्वान्तं यदीयं शुभं*
*स्मृत्वाऽद्यापि समेति शर्म मनुजस्तस्मै परस्मै नमः ॥*

श्री श्रीकृष्णपन्त

# [ २ ]

धर्माद्विवेकात् तपसो विरागाच्छमाद्दमात् सोपरतेः श्रुतेश्च ।
परार्थलक्ष्म्या न कदापि मुक्तस्तस्मान्मुनिं वाऽच्युतमानतोऽस्मि ॥१॥

श्रीमन्मुने शुभगुणाच्युत विश्ववन्द्यपादारविन्दयुगलस्य नतिं प्रपन्नाः ।
आलिङ्गिताः सुभगया परमार्थलक्ष्म्या वैराजकं ननु पदं तृणवद्विदन्ति ॥२॥

कस्ते गुणान् गुणगणाश्रय गीतकीर्तेर्विद्वानुपाकलयितुं सहसा यतेत ।
मात्सर्य्यमान्द्यमधुमत्तमना न वा चेच्चेतोधृताऽच्युतपदस्य विभोः सुधाम्नः ॥३॥

सन्दर्शनेन जगतोऽखिलपङ्कनाशः संसेवनाच्च सुभगाऽच्युतमुक्तिभूषा ।
सम्पीय कर्णकुहरैरुपदेशवाचं जीवन्त एव ननु मोक्षपदं व्रजन्ति ॥४॥

स्वामिन् प्रपञ्चपरमाश्रय निर्विकार कूटस्थ कर्मजडजीवगणैर्दुराप ।
यैः पूर्वपुण्यनिचयैः सुविशुद्धसत्त्वैर्ज्ञातोऽहमच्युत इति प्रगुणा बुधास्ते ॥५॥

त्वय्येव विश्वमखिलं विविधं विभाति नैदाघभानुकिरणेष्विव वारिपूरः ।
ज्ञाते त्वयि प्रशममेति विबोधकाले स्वापोत्थसृष्टिमिव सच्चिदनन्तरूप ॥६॥

स्वामिन्नचिन्त्यविभवस्य गुणान् गरीतुं के वा वयं तव जगत्त्रयवन्द्यकीर्तेः ।
किन्तु त्वदीयगुणकीर्तनजातपुण्यैरात्मानमेव किल पावयितुं प्रवृत्ताः ॥७॥

भिक्षुर्विभूतिकलितैरुपसेवितस्त्वं यायावरोऽपि ननु निष्क्रिय इत्यभाणि ।
मायाच्युतोऽपि ननु अच्युत इत्यजस्रमुद्घोष्यसे किल विचित्रचरित्रधाम ॥८॥

अप्येषणात्रयविमुक्तमतेर्यतेस्ते वाञ्छापदं न किमपीह चराचरेऽपि ।
स्याच्चेद्दयामय परानुगतोद्दिधीर्षा स त्वं गृहाण पुरतः समुपस्थितं माम् ॥९॥

त्वां दैवतं तव गुणैर्ग्रथितं यशोभिः पुष्पैर्विकाशसुभगैः कलितं तवैव ।
नूनं प्रकाममुपढौकयतीह पद्यपुष्पाञ्जलिं तव जनो हरिनाथ एषः ॥१०॥

*श्रीहरिनाथशास्त्री*

[ ३ ]

श्रीमज्ज्ञानवतां वरः प्रियकरो हर्युक्तभक्तः परः
जीवन्मुक्तिविवेकमग्न इह यः संबाधितो बाह्यतः ।
शीलं भूषणमेव यस्य वसुधैवैषा कुटुम्बं मतम्
निर्वाणास्पदमेति शश्वदधुना भूत्वा विदेहो भृशम् ॥१॥

अयि चिन्मय सद्गुरो त्वया सहसाऽद्य क नु गम्यते वद ।
वयमत्र जना विनाकृता भवता शून्य इह त्वनाथिताः ॥२॥

च्युतमेकपदे महोत्पलैर्निधनं दुःसहमेव तेऽधुना ।
हृदयं स्फुटतीव दारुणं क्षणिकेऽसारमये क्व नूत्सवः ॥३॥

तव निःस्पृह दीनशङ्कर क नु गच्छेद्वद दीनसेवकः ।
मुदमेति कथं कुमुद्वती शशिना वास्तमितेन दुःखिता ॥४॥

मुकुटाधिकृताङ्घ्रिपङ्कजैः कृपयाऽऽच्छादितएषबालकः ।
विरहानलपीडितस्त्वया प्रियदूरीकृत ईक्ष्यते कथम् ॥५॥

निरतोऽनिशमीश्वरस्तवे जितवाँल्लोभमदादिषड्रिपून् ।
अपवर्गफले दृढा मतिः पदवीमच्युत ! शाश्वतीमितः ॥६॥

गतोऽस्तमित ईश्वरोऽच्युतमुनिः सदानन्ददः
सतां गुणमणिः प्रियस्त्रिगुणतः परः सद्गुरुः ।
सुनिर्मलयशःप्रभोद्धृतसुसेवको निःस्पृहः
रमेशवसतिं निरन्तरमरिन्दमो मुक्तिभाक् ॥७॥

सुबुद्धिं देहीद्धां मुनिवर ! न याचे धननिधिं
परार्थे मे कायं भवतु कृपया ते बलयुतम् ।
सदा शुद्धं शीलं भवतु परमं भूषणमपि
सकृज्जाड्यं हृत्वा वितर यश उत्कृष्टमपि मे ॥८॥

श्रीजीवनरामचन्द्र भागवत बी. ए.

# [ ४ ]

१

जिसकी छाया-सी रचना यह जिसकी यह अपार माया,
उसने संसृतिमें विस्मृतिका मधुर स्वप्न-सा बरसाया,
'अच्युत' किन्तु तुम्हारी स्मृति भूले नहीं भुलाती है।
एक वर्ष हो गया किन्तु वह फिर फिर फिर फिर आती है!

२

बाणीमें सामर्थ्य नहीं है भाषामें वह ओज कहाँ?
मेरे इन सूखे नयनोंमें सरस भला वह खोज कहाँ?
नहीं ज्ञानकी प्रखर ज्योति जो सत्स्वरूपको पहिचाने,
और कल्पने! सीमित तू भी, दिव्यरूप कैसे जाने?

३

कहाँ व्यास-सी विमल बुद्धि है और विवेक विचार कहाँ?
अर्जुन-सी उत्कट जिज्ञासा, बालक ध्रुव-सा प्यार कहाँ?
दिव्य गोपियोंकी-सी उरमें विमल स्नेहकी धार कहाँ?
दृक्तलसे ओझल होता है अभी यही संसार कहाँ?

४

स्वयंब्रह्म हे मुनिवर! मैं फिर कैसे तव गुणगान करूँ?
और आपके दिव्यरूपका कैसे मैं आह्वान करूँ?
इसी जगतका मैं तो प्राणी तुम हो दिव्यलोकवासी,
जानूँ कैसे आदि-अन्तसे रहित रूप वह अविनाशी?

५

महती कृपा आपने की थी और स्वयं स्फुरणस्वरूप,
आप हुए थे प्रकट जगतमें, क्या न वही था 'अच्युत' रूप?
अपने उस अच्युत स्वरूपमें भक्तोंका कल्याण किया,
जिज्ञासू जिज्ञासा भूले, मुमुक्षुओंने ज्ञान लिया॥

६

कितनोंने स्वरूप पहिचाना, कितनोंने मस्तक नाया,
कितने ही भूले-भटकोंने तुम्हें देख सत्पथ पाया।
कितने आशाहीन पुरुषोंने तुम्हें देख आशा पाई
ज्ञान, कर्म औ भक्तियोगकी त्रिवेणी बही आई॥

७

कल्पद्रुमकी भाँति आपसे जिसने जो चाहा पाया,
दीन और दलितों ने समझा दुखमें यह आश्रय आया,
कितना बृहत् रूप था प्रभुवर! अखिल विश्वकी ज्योति महान,
कैसे कोई भी कर पाता उस स्वरूपका कुछ अनुमान?

८

स्वयंब्रह्म, 'अच्युत' अविनाशी तुम्हें भला मैं क्या न कहूँ?
आदि-अन्तसे रहित तुम्हें मैं भक्तोंका भगवान कहूँ!
अर्जुनसे सच्चे जिज्ञासू का मैं तुमको कृष्ण कहूँ!
या भिल्नीके प्रेमपाशमें बँधनेवाला राम कहूँ?

९

राम कहूँ? या कृष्ण कहूँ? या अहं ब्रह्मका ज्ञान कहूँ।
तेजपुंज मैं कहूँ तुम्हें या जगका अमर विधान कहूँ?
शेष-शारदा पा न सके हैं जिस स्वरूपका कुछ व्यवधान,
वह सब बतला कर भी तुमको कहो भला मैं क्या न कहूँ?

१०

अणु-अणु व्यापी महाशक्ति औ अन्धकारमें ज्योति महान्,
कण-कण प्रेरित करनेवाले तुम वाणीके विषय कहां?
भरसक कह लेनेपर मुझको किञ्चित भी सन्तोष नहीं,
हे अनन्त तुम क्षमा करो तो मैं तुमको अज्ञेय कहूँ।

११

'अच्युत' मेरे अन्धकारमय मग को कुछ प्रकाश कर दो,
विमल ज्ञानकी ज्योति जगाकर कुछ अपनी आभा भर दो!
भर दो ऐसी ज्ञानराशि जिससे नित विमल विचार उठें,
अर्जुनके ये शब्द आन मेरी बाणीसे आप उठें।

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत!।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥"

श्री श्रीनिवास एम. ए.

ॐ नमः परमात्मने

श्रीविद्यारण्यमुनिप्रणीत

# विवरणप्रमेयसंग्रह

## [ भाषानुवाद सहित ]

स्वमात्रयाऽऽनन्दयदत्र जन्तून् सर्वात्मभावेन तथा परत्र ।
यच्छङ्करानन्दपदं हृदब्जे विभ्राजते तद्यतयो विशन्ति ॥१॥
भाष्यटीकाविवरणं तन्निबन्धनसंग्रहः ।
व्याख्यानव्याख्येयभावक्लेशहानाय रच्यते ॥ २ ॥

---

वदनविनिर्जितशारदसुधामयूखप्रभाबिम्बाम् ।
सरसिजमनोज्ञनयनां बालां वन्दे सतीमम्बाम् ॥ १ ॥

भाष्यस्य टीकाविवृतेः प्रमेयसङ्घस्य श्रीमाधवगुम्फितस्य ।
गुरून् प्रणम्याऽर्थप्रकाशनाय भाषां विधत्ते ललिताप्रसादः ॥ २ ॥

इस लोकमें अपनी मात्रा द्वारा और परलोकमें सर्वात्मता द्वारा सब प्राणियोंको आनन्द दे रहा जो शङ्करानन्दपद हृदयकमलमें प्रकाशमान है वही सब योगियोंका गम्य स्थान है, अर्थात् उसे मैं प्रणाम करता हूं * ॥ १ ॥

भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्य द्वारा निर्मित ब्रह्मसूत्रभाष्यके ऊपर जो पञ्चपादिका-टीकाका व्याख्यान विवरण है, उसमें ग्रथित विषयोंका संग्रहात्मक यह विवरणप्रमेयसंग्रहनामक ग्रन्थ व्याख्यानव्याख्येयरूप क्लेशकी निवृत्तिके लिए बनाया जाता है ॥ २ ॥

---

* यह प्रसिद्ध है कि विद्यारण्यमुनि या माधवाचार्यके गुरु श्रीशङ्करानन्द थे, अतः 'गुरुरेव परं साक्षात् नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्' अर्थात् गुरु ही साक्षात् परब्रह्म है, गुरुसे पृथक् तत्त्व नहीं है, इस प्रामाणिक स्मृतिके आधारपर ग्रन्थके आरम्भमें सर्वमय मूलतत्त्वस्वरूप अपने

नित्यस्वाध्यायविधितोऽधीत्य वेदान्तमस्य ये ।
संशेरतेऽर्थे ते सूत्रभाष्यादिष्वधिकारिणः ॥३॥

नित्यो हि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधिः 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इति वचनात्। काम्यत्वे हि वेदाध्ययनस्याऽन्योन्याश्रयता—अर्थावबोधे सति कामना, कामनायां सत्यां षडङ्गोपेतवेदाध्यनप्रवृत्तस्याऽर्थावबोध इति । अतः सर्वोऽपि नित्यविधिबलादेव षडङ्गसहितं वेदमधीत्याऽर्थं जानाति ।

कश्चित् पुण्यपुञ्जपरिपाकवशान्निरतिशयपुरुषार्थप्रेप्सायां तदुपायं वेदेऽन्विष्येदमवगच्छति—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' इत्या-

---

नित्य स्वाध्यायविधिसे वेदान्तोंका अध्ययन करके जिन लोगोंको वेदान्तके अर्थावधारणमें—तात्पर्यज्ञानमें—सन्देह होता है, वे ही ब्रह्मसूत्रभाष्य आदि निबन्धोंके अधिकारी हैं ॥ ३ ॥

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' ( वेदाध्ययन करना चाहिए ) इस प्रकारकी अध्ययनविधि नित्यविधि है, क्योंकि 'ब्राह्मणेन०' ( ब्राह्मणको किसी कारणकी अर्थात् फलकी इच्छाके बिना केवल अपना कर्तव्य समझकर वेदाध्ययन करना चाहिए, उसके अर्थोंको जानना चाहिए और अनन्तर उसमें प्रतिपादित कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए ) इस प्रकार स्वाध्यायाध्ययनमें नित्यविधिका ही प्रतिपादक वचन मिलता है । इसपर भी यदि कोई हठात् उसे नित्यविधि न मानकर काम्यविधि माने, तो अन्योऽन्याश्रय दोष आवेगा—क्योंकि तभी वेदप्रतिपादित फलकी कामना होगी जब वेदार्थका परिज्ञान होगा, और वेदार्थका परिज्ञान तभी होगा जब कामना होनेके बाद छः अङ्गोंसे युक्त वेदके अध्ययनमें पुरुष प्रवृत्त होगा । अतः नित्यविधिके बलसे पहले षडङ्गसहित वेदाध्ययन करके ही सभी अधिकारी वेदार्थको जानते हैं, यह निर्विवाद है ।

उन वेदार्थाभिज्ञोंमें से कोई पुण्यपुञ्जके परिपाकसे (प्रभावसे) निरतिशय पुरुषार्थकी अभिलाषा होनेपर उसके सम्पादनके लिए वेदमें पुरुषार्थके हेतुकी अन्वेषणा कर यह जानता है—'आत्मनस्तु०' ( आत्माके लिए ही सभी वस्तुएँ प्रिय

---

गुरुका स्मरण कर ग्रन्थकार नमस्कार करते हैं, जिससे आरब्ध ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्ति हो। और इसीसे अनुबन्धचतुष्टय भी बतलाया गया है—ब्रह्मात्मैक्य विषय है, दुःखनिवृत्ति प्रयोजन है, वक्ष्यमाण विशेषणसे युक्त तत्त्वजिज्ञासु अधिकारी है और प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है ।

त्मशेषतयैवाऽन्यस्य सर्वस्य प्रियत्वोक्तेरात्मव्यतिरिक्तात् सर्वस्माद् विरक्तोऽधिकारी, 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विज्ञातम्' इत्युपक्रम्य 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' इत्युपसंहारात् परमपुरुषार्थभूतस्याऽमृतत्वस्याऽऽत्मदर्शनोपायत्वं प्रतिपाद्य, दर्शनस्य चाऽपुरुषतन्त्रस्याऽविधेयत्वात् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यात्मदर्शनमनूद्य तदुपायत्वेन 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणं नामाऽङ्गि विधीयत इति ।

ननु षडङ्गोपेतवेदाध्यायिनः सत्यपि वेदार्थावगमे विचारमन्तरेण

---

होती हैं ) इस श्रुतिसे आत्माके अङ्गरूपसे ही अन्य सभी वस्तुएँ प्रिय कही गई हैं, अतः आत्मभिन्न सब वस्तुओंसे विरक्त पुरुष ही वेदान्तप्रतिपाद्य विषयका अधिकारी है, और 'आत्मनि खल्वरे०' ( हे मैत्रेयि ! श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा आत्माका साक्षात्कार होनेपर ही यह सब ज्ञात हो जाता है ) इस प्रकार उपक्रम करके 'एतावदेव अरे खल्वमृतत्वम्' ( हे मैत्रेयि ! यही अमृतत्व है ) इस प्रकार उपसंहार होनेसे पुरुषका परम अभीष्ट अमृतत्व ही है और उसका उपाय केवल आत्मदर्शन है, ऐसा प्रतिपादन कर अपुरुषतन्त्र* दर्शनके विधेय न होनेके कारण 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' ( अरे मैत्रेयि ! आत्माका दर्शन करना चाहिए ) इस श्रुतिसे दर्शनका अनुवाद करके 'श्रोतव्यः०' ( उसके उपायरूपसे श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए ) इस वाक्यसे आत्मसाक्षात्काररूप फलके प्रति उपकारक † मनन और निदिध्यासनरूप अङ्गोंके साथ श्रवण नामवाले अङ्गीका विधान किया जाता है ।

यदि शङ्का हो कि जिसने छः अङ्गोंके साथ वेदोंका अध्ययन किया है,

---

* दर्शनशब्दका ज्ञान अर्थ होता है । ज्ञान नित्य है, वह पुरुष द्वारा विधेय नहीं हो सकता । यदि कथञ्चित् वृत्त्यात्मक ज्ञान लिया जाय, तो भी वह विषयादि कारणकलापके अधीन होनेसे पुरुष द्वारा विधेय नहीं हो सकता है, इसलिए 'आत्मा द्रष्टव्यः' इसको दर्शनविधि नहीं मान सकते हैं, किन्तु यह दर्शनानुवादमात्र है, यह भाव है ।

† अर्थात् श्रवण आत्मसाक्षात्कारके प्रति स्वतन्त्र कारण नहीं है, किन्तु मनन और निदिध्यासनके साथ कारण है, अतः ब्रह्मज्ञानरूप फलमें सहकारीरूपसे उपकारक मनन और निदिध्यासनरूप सहकारियोंके साथ श्रवणरूप अङ्गीका ( मुख्य साधनका ) 'श्रोतव्यः' इत्यादिके साथ विधान किया जाता है ।

तात्पर्यानवगमान्न तेनाऽवगतोऽर्थः श्रुत्यभिप्रेतो भवितुमर्हतीति चेद्, मैवम्; एतच्छ्रुतितात्पर्यस्यैव पुराणेषु प्रतिपादितत्वात्। तथा हि—

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
ज्ञात्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥ १॥

तत्र तावन्मुनिश्रेष्ठाः! श्रवणं नाम केवलम्।
उपक्रमादिभिर्लिङ्गैः शक्तितात्पर्यनिर्णयः॥ २॥

सर्ववेदान्तवाक्यानामाचार्यमुखतः प्रियात्।
वाक्यानुग्राहकन्यायशीलनं मननं भवेत्॥ ३॥

---

उसको वेदार्थका परिज्ञान होनेपर भी विचारके बिना उनके तात्पर्यका ज्ञान न होनेसे उस पुरुषके द्वारा ज्ञात अर्थ श्रुतिका तात्पर्यविषय नहीं हो सकता है? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुतिके तात्पर्यनिर्णायक वेदान्तविचारके पूर्व भी पुराणोंमें श्रुतिका वैसा ही ( पूर्वोक्त ही ) तात्पर्य निर्णीत है। जैसे—

श्रुति वाक्योंसे आत्माका श्रवण करना चहिए, युक्तियों द्वारा आत्माका मनन करना चाहिए और मननसे परिपक्व ज्ञानके बाद उसका ध्यान करना चाहिए, क्योंकि आत्माके साक्षात्कारमें श्रवण, मनन और निदिध्यासन कारण हैं ॥१॥

हे श्रेष्ठ मुनियो! श्रवण, मनन और निदिध्यासन इन तीनोंमें से श्रवण उसे कहते हैं—जो आचार्यके सुन्दर मुखसे निकले हुए शब्दों द्वारा उपक्रम आदि छः प्रमाणोंके आधारपर सब वेदान्तवाक्योंकी शक्तिके तात्पर्यका निर्णय है। और वेदान्तवाक्योंके अर्थके अनुग्राहक—समर्थक—पञ्चावयव वाक्योंसे * युक्त अनुमानका परिशीलन मनन कहलाता है ॥२–३॥

---

* पञ्चावयवोंकी अनुमानमें अत्यन्त उपयोगिता होती है, वे हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। यद्यपि वेदान्तसिद्धान्तमें तीन ही अवयवोंकी अपेक्षा मानी जाती है, तथापि कोई लोग प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण और कोई लोग उदाहरण, उपनय और निगमन इस प्रकार उनकी उपयोगिता मानते हैं, अतः ऐसी उक्तिमें कोई विशेष आग्रह नहीं है, यह भाव है।

निदिध्यासनमैकाग्र्यं श्रवणे मननेऽपि च ।
निदिध्यासनसंज्ञं च मननं च द्वयं बुधाः ! ॥४॥
फलोपकारकाङ्गं स्यात् तेनाऽसम्भावना तथा ।
विपरीता च निर्मूलं प्रविनश्यति सत्तमाः ! ॥५॥
प्राधान्यं मननादस्मिन्निदिध्यासनतोऽपि च ।
उत्पत्तावन्तरङ्गं हि ज्ञानस्य श्रवणं बुधाः ! ॥६॥
तटस्थमन्यव्यावृत्त्या मननं चिन्तनं तथा ।
इतिकर्तव्यकोटिस्थाः शान्तिदान्त्यादयः क्रमात् ॥७॥

---

श्रवण और मननके अनन्तर अर्थात् विचार और तदनुकूल युक्तियोंके परिशीलनके अनन्तर मनकी एकाग्रता—सब विषयोंकी ओरसे चित्तको बटोर कर श्रुत—मत विषयमें ही उसको सदा लीन करना—निदिध्यासन कहलाता है। हे विज्ञ * उत्तम मुनिजनो ! निदिध्यासन और मनन ये दोनों फलोपकारक अङ्ग हैं, इनसे क्रमशः असम्भावना तथा विपरीतभावना समूल नष्ट हो जाती है ॥ ४, ५ ॥

हे बुधवृन्द ! मनन और निदिध्यासन की अपेक्षा श्रवण में प्रधानता है, क्योंकि वह ज्ञानोत्पत्तिमें अन्तरङ्ग—मुख्य—साधन है ॥६॥

और मनन तथा निदिध्यासन तो असम्भावना आदिकी व्यावृत्ति द्वारा ज्ञानके बहिरङ्ग साधन हैं। शम, दम आदि तो इतिकर्तव्यताकोटिमें वर्तमान हैं † ॥७॥

---

* इसमें सत्तमशब्दका ही उत्तम अर्थ है । सत्तमशब्दका प्रयोग इसलिए किया गया है कि इन मुनियोंने आत्मश्रवणके लिए जिज्ञासा की है, अतः आत्मश्रवण नहीं चाहनेवालोंसे ये श्रवणके विषयमें प्रश्नकर्ता मुनि उत्तम हैं, यह भाव है ।

† तात्पर्य यह है कि उदाहरणके लिए ग्रहयाग लीजिए। उसकी इतिकर्तव्यता है—इस प्रकार मण्डल हो, अमुक अमुक मन्त्रसे अमुक अमुक दिशामें अमुक अमुक आकारके मण्डलके ऊपर अमुक अमुक पौर्वापर्यसे अमुक अमुक ग्रह वा इन्द्रादि देवताका आवाहन, ध्यान आदि षोडशोपचारसे पूजा करे, अमुक देवता या ग्रहकी प्रसन्नताके लिए अमुक मन्त्र, जप या पाठ अमुक संख्यामें करे एवम् अमुकामुक कर्ममें अमुक द्रव्यकी आहुति दे इत्यादि क्रियाकलापपरिपाटी इतिकर्तव्यता कहलाती है। इसी तरह आत्मसाक्षात्कारके उपाय विचारकी इतिकर्तव्यता शम, दम आदि हैं। शम, दम आदि प्रक्रियाके अनुशीलनसे ही विचारका उदय होता है ।

ततः सर्वाङ्गनिष्ठस्य प्रत्यग्ब्रह्मैक्यगोचरा ।
या वृत्तिर्मानसी शुद्धा जायते वेदवाक्यतः ॥८॥
तस्यां या चिदभिव्यक्तिः स्वतःसिद्धा च शाङ्करी ।
तदेव ब्रह्मविज्ञानं तदेवाऽज्ञाननाशनम् ॥९॥

'तत्त्वमसि' ( वह ब्रह्म तू है ) इत्यादि महावाक्योंसे शम, दम आदि चार साधनोंसे सम्पन्न पुरुषकी जीवब्रह्मैक्यविषयक जो शुद्ध मानसिक वृत्ति होती है, उसमें होनेवाली स्वतःसिद्ध* शाङ्करी चित्की—चैतन्यकी—अभिव्यक्ति ही ब्रह्मविज्ञान है । और वही अज्ञानका नाशक है ॥८, ९॥

---

* इस श्लोकमें 'स्वतःसिद्ध' और 'शाङ्करी' दो विशेषण हैं । उनका संक्षेपमें यह अभिप्राय है—वेदान्तमतमें ज्ञान स्वतःप्रकाश—अपने आप प्रकाश होनेवाला—माना गया है । इसके प्रकाशके लिए किसी द्वितीय ज्ञान (प्रकाश) की आवश्यकता नहीं है, जिस तरह प्रथम घटज्ञानका प्रकाशक द्वितीय ज्ञान (घटको मैं जानता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय) नैयायिक मानते हैं, उस तरह वेदान्ती नहीं मानते, ज्ञानके स्वप्रकाश होते हुए भी घट, पट आदिका प्रकाश सदैव नहीं होता, इसका यह कारण है कि वेदान्त-मतमें ज्ञान स्वतः आकारवाला नहीं है । इसके घट, पट आदि आकार विषय-रूप उपाधि द्वारा ही होते हैं । और विषय वेदान्त-मतमें तत्तदवच्छिन्न चैतन्य ही है, वह चैतन्य अज्ञानसे आवृत रहता है । जब इन्द्रियसे विषयावच्छिन्न चैतन्यका संयोग होता है, तब मन—अन्तःकरण—चक्षु आदि बाह्येन्द्रियोंके द्वारा विषय देशमें जाकर नालीके द्वारा खेतमें गये हुए जलकी तरह विषयके आकारमें परिवर्तित हो जाता है, इस परिवर्तनको मनकी विषयाकार वृत्ति कहते हैं। वृत्तिके उत्पन्न होते ही विषयावच्छिन्न चैतन्यका आवरण नष्ट हो जाता है, यह वृत्ति जड़ मनका परिणाम है, अतः वृत्ति भी जड़ ही है । इसलिए इतने ही से विषयका प्रकाश नहीं हो सकता, विषयप्रकाशके लिए जब उस मनोवृत्तिमें चित् (नित्य प्रकाश) का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब इस वृत्तिके माहात्म्यसे ज्ञान भी विषयाकार हो जाता है और उस समय अन्तःकरणसे नित्य सम्बद्ध साक्षी भी इसकी गवाही देता है । ऐसी परिस्थितिमें विषयका प्रत्यक्ष हो जाता है—इस प्रत्यक्षप्रक्रियासे घट, पट आदिके प्रत्यक्षके लिए विषय-इन्द्रिय-सन्निकर्ष, विषयाकार मनोवृत्ति, उस वृत्तिसे आवरणविनाश अथवा साक्षीसे सम्बन्ध और उस वृत्तिमें चिदाभास या चित्प्रतिबिम्ब, इतनी सामग्री अपेक्षित है । अत एव घट, पट आदि प्रत्यक्षस्थलीय मनोवृत्ति साक्षिभास्य होनेसे, स्वयंप्रकाश नहीं कही जा सकती । परन्तु जहांपर 'सोऽहं' 'तत्त्वमसि' (वह मैं हूँ, या वह तू है) इत्यादि वाक्योंके श्रवण (विचार) से ब्रह्माकार मनोवृत्ति होती है (हम कह आये हैं कि मनकी वृत्ति विषयके आकारवाली होती है, इसलिये वेदान्तवाक्योंके श्रवणके अनन्तर होनेवाली वृत्तिका विषय ब्रह्म है, अतः यह ब्रह्माकार वृत्ति कहलाती है) वहाँपर ब्रह्माकार वृत्तिके होते ही ब्रह्मको आवृत किया हुआ अज्ञानावरण तुरन्त नष्ट हो जाता है, क्योंकि वृत्तिज्ञान अज्ञानका नाशक है । अब आवरणके नष्ट होते ही उस वृत्तिमें अभिव्यक्त स्वयंप्रकाश ब्रह्मरूपी विषय चिदाभासके

प्रत्यग्ब्रह्मैक्यरूपा या वृत्तिः पूर्णाऽभिजायते ।
शब्दलक्षणसामग्र्या मानसी सुदृढा भृशम् ॥१०॥
तस्याश्च द्रष्टृभूतश्च प्रत्यगात्मा स्वयंप्रभः ।
स्वस्य स्वभावभूतेन ब्रह्मभूतेन केवलम् ॥११॥
स्वयं तस्यामभिव्यक्तस्तद्रूपेण मुनीश्वराः ! ।
ब्रह्मविद्यासमाख्यस्तदज्ञानं चित्प्रकाशितम् ॥१२॥
प्रतीत्या केवलं सिद्धं दिवाभीतान्धकारवत् ।
अभूतं वस्तुगत्यैव स्वात्मना ग्रसते स्वयम् ॥१३॥

हे मुनीश्वरो ! 'तत्त्वमसि' आदि शब्दरूप सामग्रीसे जो प्रत्यग्ब्रह्माकाररूप पूर्ण और अत्यन्त सुदृढ़ मनकी वृत्ति उत्पन्न होती है, उसका द्रष्टा स्वतःप्रकाशमान प्रत्यगात्मा ही है, अन्य नहीं है, क्योंकि उस वृत्तिमें अपने स्वभावभूत ब्रह्मरूपसे आप ही ( प्रत्यगात्मा ही ) अभिव्यक्त हुआ है। अतः इतर द्रष्टाकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह स्वयं द्रष्टारूप है। उक्त स्वरूपसे अभिव्यक्त परमात्मा ही 'ब्रह्मविज्ञान' शब्दसे कहलाता है, और चित्से प्रकाशित ब्रह्माज्ञान दिवाभीत अर्थात् उल्लू द्वारा कल्पित अन्धकारके समान केवल प्रतीतिमात्रसे सिद्ध

बिना ही स्वयंप्रकाश हो जाता है, और इसके प्रकाशके लिए साक्षिप्रतिभासकी आवश्यकता नहीं है—यह तो स्वयं सकल विश्वका साक्षी नित्यसिद्ध प्रकाश है, इसके प्रकाशके लिए द्वितीय साक्षी कौन हो सकता है ? केवल आवरण नाशके लिए इसे वृत्तिमात्रकी आवश्यकता रहती है। इसलिए यह चिदभिव्यक्ति नित्यसिद्ध कही गई है। अब रहा 'शाङ्करी' विशेषण, यह अधिक गूढ़ अभिप्राय रखता है। व्युत्पत्तिके अनुसार (शङ्करस्य इयं शाङ्करी) शङ्करसम्बन्धिनी, ऐसा अर्थ मालूम पड़ता है। इसमें विचारणीय यह है कि शङ्कर कौन, उसका सम्बन्ध क्या और किससे ? यदि अभिव्यक्तिसे, तो अभिव्यक्ति, ज्ञान या शङ्कर तो पर्याय ही हैं। एक ही पदार्थमें सम्बन्ध कैसे ? और ज्ञान तथा विषयका सम्बन्ध भी तो अपने मतमें काल्पनिक (आध्यासिक) ही है। इस दशामें इससे समूल अज्ञानका नाश कैसे हो सकता है ? इत्यादि अनेक विकल्पोंका भण्डार यह विशेषण है। अस्तु, संक्षेपमें उत्तर लिखते हैं—यह श्लोक पौराणिक है, पुराणोंमें तन्त्र मतका पर्याप्त सङ्ग्रह पाया जाता है। अतः 'शाङ्करी' विशेषण भी तन्त्रमतकी छाया है। जिसका भाव होता है—शिवस्वरूप शङ्करका स्वभाव। उपरोक्त अभिव्यक्ति शुद्ध, नित्यप्रकाश शिवस्वरूप ही है और उसका स्वतःसिद्धप्रकाशत्व भी स्वभाव ही है, अतः स्वतःसिद्ध और शाङ्करी दोनों विशेषणोंकी सार्थकता हुई, अन्यथा 'शाङ्करी' विशेषण निरर्थक ही नहीं प्रत्युत असङ्गतार्थक भी हो जाता। अथ च श्रीशङ्कराचार्य-प्रतिपादित अद्वैतवृत्तिका बोध कराना भी 'शाङ्करी' विशेषणका तात्पर्य है।

स्वात्मनाऽज्ञानतत्कार्यं प्रसन्नात्मा स्वयं बुधाः ! ।
स्वपूर्णब्रह्मरूपेण स्वयमेवाऽवशिष्यते ॥१४॥
एवंरूपावशेषस्तु स्वानुभूत्येकगोचरः ।
येन सिध्यति विप्रेन्द्रास्तद्धि विज्ञानमैश्वरम् ॥" १५ ॥

नन्वेवमपि श्रवणस्य विधिर्नोपपद्यते । तथा हि—स किं ज्योतिष्टोमादेरिवाऽपूर्वविधिः ? उताऽवघातादिवन्नियमविधिः ? किं वा 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यादिवत् परिसङ्ख्याविधिः ? नाऽऽद्यः, वेदान्तश्रवणादीनां दृष्टफल-

---

है, वास्तवमें वह कोई वस्तु ही नहीं है। आत्मज्ञानके उदित होनेपर अपने-आप ही अपनेको तथा अपने कार्य अध्यास आदि सबको जब निगलता है अर्थात् उन सबको समेटकर वह अन्धकार ( अज्ञान ) स्वयं विलीन हो जाता है। हे विज्ञजनो ! तब वही आत्मा आनन्दरूप होकर अपने पूर्णब्रह्मरूपसे अवशिष्ट रहता है। [इसलिए] हे विप्रेन्द्रो ! केवल अपने अनुभवसे ज्ञात होनेवाला उक्त ब्रह्मावशेष जिस विज्ञानसे सिद्ध होता है, वही ब्रह्मविज्ञान है, ऐसा आप जानें ॥१०—१५॥

अब शङ्का करते हैं कि इसपर भी श्रवणको विधि मानना युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता—क्योंकि जो श्रवणको विधि मानता है, उससे पूछना चाहिए कि क्या तुम 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' इस विधिके समान श्रवणको अपूर्वविधि मानते हो ? अथवा 'व्रीहीनवहन्ति' इसके समान नियमविधि मानते हो ? या 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इसके समान परिसङ्ख्याविधि मानते हो ? * । इसमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानरूप दृष्टफलके प्रति वेदान्तके श्रवण आदिकी साधनता

---

* 'ज्योतिष्टोमेन यजेत' ( ज्योतिष्टोम याग करे ) यह अपूर्वविधि है, अर्थात् ज्योतिष्टोम याग, इस वाक्यको छोड़कर किसी अन्य प्रमाणसे प्राप्त नहीं है, अतः यह अपूर्व विधि है। 'व्रीहीनवहन्ति' ( धानोंको मूसलसे कूटे अर्थात् मूसलसे कूटकर धानके छिलके निकाले ) यह नियमविधि है, क्योंकि छिलका निकालना अन्य साधनोंसे प्राप्त है, अवघातसे ही व्रीहिके छिलके निकाले जायँ ऐसा नियम होनेसे यह विधि नियमविधि कहलाती है। 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' ( पाँच पाँचनखवाले खाने चाहिएँ अर्थात् पञ्च और अपञ्च नखवाले जितने प्राणी हैं, उनमें से शशक ( खरगोश ), शल्लकी ( शाही ), गोधा ( गोह ), खड्गी ( गेंडा ) और कूर्म, ये पाँच ही खाने चाहिएँ, इतर नहीं ) यह परिसङ्ख्याविधि है, क्योंकि रागसे पञ्चनख और अपञ्चनखका भक्षण प्राप्त है, अतः इससे इतरकी निवृत्ति होती है।

ब्रह्मज्ञानं प्रति साधनत्वस्याऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धत्वात्; प्रसिद्धं हि लोके वैद्यशास्त्रश्रवणस्य तद्विषयावगमं प्रति साधनत्वम्। न द्वितीयः, नियमादृष्टस्य कल्पकाभावात्। अवघातादौ तु नियमादृष्टजन्यपरमापूर्वमेव एतत्कल्पकम्। न च ब्रह्मज्ञानमदृष्टजन्यम्, केवलव्यतिरेकाभावात्। नहि वेदान्तश्रवणादौ सत्यपि नियमादृष्टाभावापराधेन ब्रह्मज्ञानानुत्पत्तिर्दृष्टचरी। ज्ञानस्य कथंचिददृष्टजन्यत्वेऽप्ययं विधिर्भाष्यविरुद्धः, समन्वयसूत्रव्याख्याने महता प्रयत्नेन विधिनिराकरणात्। अन्यथा वेदान्तानां विधिपरत्वं ब्रह्मपरत्वं चेति वाक्यभेदप्रसङ्गः। नाऽपि तृतीयः, पञ्चनखापञ्चनखभक्षणयोरन्यतः प्राप्तावन्यपरिवर्जनवदात्मसाक्षात्कारस्योपनिषदतिरिक्तात् प्राप्त्यसंभवात्। तस्मात् नास्ति श्रवणविधिरिति।

---

अन्वय-व्यतिरेकरूप प्रमाणसे प्राप्त ही है, लोकमें प्रसिद्ध है कि आयुर्वेदशास्त्रका विचार आयुर्वेदके प्रतिपाद्य विषयोंके परिज्ञानमें साधन है [ इसी प्रकार वेदान्तशास्त्रका विचार भी वेदान्तके विषयके परिज्ञानमें कारण हो सकता है, यह भाव है ]। द्वितीय पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि नियमविधिसे उत्पन्न होनेवाले अदृष्टकी कल्पना करनेवाला कोई नहीं है। अवघात आदि स्थलोंमें तो अवहनननियमादृष्टसे उत्पन्न होनेवाला परम अपूर्व ही नियमादृष्टका कल्पक है, [ प्रकृतमें नियमादृष्टका कल्पक ब्रह्मज्ञान तब होता, जब वह नियमादृष्टसे जन्य होता, परन्तु ] ब्रह्मज्ञान नियमादृष्टसे जन्य नहीं है, क्योंकि केवलव्यतिरेक प्रमाण नहीं है। कारण कि वेदान्तश्रवणके रहते नियमादृष्टके अभावमात्रसे ब्रह्मज्ञानकी अनुत्पत्ति नहीं देखी जाती है। यदि कथञ्चित् तुम्हारे कथनानुसार ब्रह्मज्ञानको अदृष्टजन्य मान भी लिया जाय, तथापि यह श्रवणविधि भाष्यविरुद्ध ही है, क्योंकि समन्वयसूत्रमें बड़े ऊहापोहसे भगवान् भाष्यकारने श्रवणविधिका परिहार किया है। यदि यह न माना जाय, तो वेदान्तवाक्योंके विधिपरक और ब्रह्मपरक होनेसे वाक्यभेद प्राप्त होगा। तृतीय परिसङ्ख्याविधिका भी सम्भव नहीं है, क्योंकि जैसे पञ्चनख और अपञ्चनखके भक्षणकी रागसे प्राप्ति होनेपर अन्यतरकी निवृत्तिके लिए उक्त स्थलमें परिसंख्याविधि मानी जाती है, वैसे आत्मसाक्षात्कारकी उपनिषत्से अतिरिक्त प्रमाण द्वारा प्राप्ति नहीं है, अतः श्रवणविधि नहीं है।

अत्रोच्यते—दृष्टफलस्याऽपि धर्मज्ञानस्य साधनेऽध्ययने नियमविधिस्तावदङ्गीकृत एव। यदा त्वर्वाचीनपुरुषार्थे परोक्षे धर्मज्ञानेऽप्येवम्, तदा किमु वक्तव्यं परमपुरुषार्थब्रह्मसाक्षात्कारसाधने श्रवणे नियमविधिरिति? यद्यध्ययने नियमादृष्टजन्यं यागीयापूर्वं तत्कल्पकं स्यात्, तर्हि श्रवणेऽपि ब्रह्मज्ञानं तत्कल्पकमस्तु, ब्रह्मज्ञानस्य सर्वादृष्टजन्यत्वात्; 'सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते' इति स्मरणात्। अत्र हि प्रसिद्धयागादीनेवाऽपेक्ष्य सर्वग्रहणमिति भ्रमं व्युदस्य श्रवणादेरपि संग्रहायैवाऽखिलमित्युक्तम्, अन्यथा पौनरुक्त्यात्।

"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥" (मनुस्मृ० २।१६८)

---

इस प्रकार पूर्वपक्ष होनेपर समाधान कहते हैं कि धर्मज्ञानरूप दृष्टफलके प्रति साधनभूत अध्ययनमें पूर्वमीमांसकोंने नियमविधिका ही अङ्गीकार किया है। जब द्वितीय श्रेणीके परोक्षरूप धर्मज्ञानात्मक पुरुषार्थके उपायभूत अध्ययनमें नियमविधिका स्वीकार किया जाता है, तो प्रथम श्रेणीके पुरुषार्थरूप ब्रह्मज्ञानके प्रति साधनभूत वेदान्तविचारमें नियमविधि है, इसमें कहना ही क्या है? अर्थात् 'श्रोतव्यः' यह नियमविधि ही है। यदि वेदाध्ययनमें अध्ययननियमसे उत्पन्न हुए अदृष्टजन्य यागसम्बन्धी अपूर्व अपने कारणभूत नियमजन्य अदृष्टकी कल्पना करनेवाला हो सकता है, तो फिर श्रवणमें भी ब्रह्मज्ञान नियमादृष्टकी कल्पना अवश्य कर सकता है, क्योंकि सभी अदृष्टोंसे ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्ति होती है, कारण कि 'सर्वं कर्माऽखिलम्०' (सब कर्मोंकी परिसमाप्ति ज्ञानमें ही होती है) ऐसा श्रीमद्भगवद्गीताका वाक्य है। इस वाक्यमें किसीको भ्रम हो जाय कि पूर्वमीमांसोक्त प्रसिद्ध यागोंकी ही अपेक्षासे 'सर्व' शब्द दिया गया है, तो उसकी निवृत्ति करके श्रवण आदिका परिग्रहण करनेके लिए 'अखिलम्' शब्द कहा गया है, अन्यथा पुनरुक्ति हो जायगी।

यदि कहो कि 'योऽनधीत्य०' (जो द्विज—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—वेद न पढ़कर अन्य अर्थशास्त्र आदि विषयोंमें परिश्रम करते हैं, वे जीते-जी ही अपने पुत्रपौत्रोंके साथ शीघ्र शूद्रत्वको प्राप्त होते हैं) इस प्रकारकी स्मृतिसे वेदाध्ययन न करनेपर पाप होता है, ऐसा कहा गया है, अतः स्वाध्यायाध्ययनमें विधिका

इत्यकरणे प्रत्यवायमपेक्ष्य विध्यङ्गीकारे प्रकृतेऽपि तथाऽस्तु ।

"नित्यं कर्म परित्यज्य वेदान्तश्रवणं विना ।
वर्तमानस्तु संन्यासी पतत्येव न संशयः ॥"

इति प्रत्यवायसस्मरणात् ।

ननु ब्रह्मज्ञाने श्रवणादीनामन्वयव्यतिरेकादिना नास्ति साधनभावप्राप्तिः; निर्विशेषस्य ब्रह्मणो वेदान्तैकसमधिगम्यत्वात्, तत्कथं नियमसिद्धिः ? मैवम्; 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यत्र शास्त्रैकगम्यापूर्वीयव्रीहिष्वन्यतो दलनाद्यप्राप्तावपि अवघाते यथा नियमः, तथा श्रवणेऽपि पाक्षिकत्वमन्तरेणैव नियमोऽस्तु । अथ व्रीहिमात्रसाधारणाकारेण प्राप्तिमपेक्ष्य तत्र नियमः ? तदत्राऽपि समानम्, विषयज्ञानमात्रसाधारणाकारस्य सुवचत्वात् ।

अथाऽवघातेऽपूर्वविधिरेव सन् फलतो नियम इति व्यवह्रियते, श्रवणेऽपि तथा

---

अङ्गीकार किया जाता है, तो ब्रह्मज्ञानके साधन श्रवणमें भी उसी प्रकार विधि हो सकती हैं, क्योंकि 'नित्यं कर्म०' ( नित्य कर्मोंका परित्याग करके जो संन्यासी वेदान्तश्रवण नहीं करता, वह निःसन्देह पतित हो जाता है ) इस स्मृतिसे वेदान्तश्रवण न करनेसे भी प्रत्यवाय सुना जाता है ।

यदि शङ्का हो कि अन्वय और व्यतिरेकसे ब्रह्मज्ञानके प्रति श्रवण आदिमें साधनता प्राप्त नहीं हैं, क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म केवल उपनिषत् प्रमाणसे गम्य है, इसलिए श्रवणकी नियमविधि कैसे हो सकती है ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'व्रीहीनवहन्ति' ( व्रीहियोंका अवघात करे ) इत्यादि अवघातस्थलमें शास्त्रमात्रसे ज्ञात होनेवाले अपूर्वसम्बन्धी व्रीहियोंमें प्रमाणान्तरसे तुषमोचनकी—विदलनकी—प्राप्ति न होनेपर भी जैसे नियमविधि मानी जाती है, वैसे ही श्रवणमें भी पाक्षिक प्राप्तिके न होनेपर भी नियमविधि मानी जा सकती है । यदि कहिए कि सर्वसाधारण व्रीहियोंको लेकर विदलनकी प्राप्तिकी अपेक्षा करके उक्त स्थलमें नियमविधि है ? तो वह यहाँपर भी अर्थात् श्रवणस्थलमें भी समान है, क्योंकि सर्वसाधारण विषयज्ञानको लेकर विचारमें हेतुता प्राप्त ही है, ऐसा कह सकते हैं ।

यद्यपि अवघातमें ( विशेषाकारसे ) अपूर्वविधि ही है, तथापि जैसे फलतः नियमविधिका* व्यवहार होता है, वैसे ही श्रवणमें अपूर्वविधि होनेपर भी

---

* अर्थात् अवघातसे उत्पन्न तण्डुल ही अपूर्वके प्रति कारण हैं, अन्य साधनोंसे निष्पन्न तण्डुल नहीं, इस प्रकार अन्यमें निषेध होनेसे अवघातमें नियमविधि फलित होती है, वस्तुतः

भविष्यति। न च भाष्यविरोधः, दर्शनविधेरेव तत्र निराकरणात्। दर्शनविधाने हि 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः प्राधान्येन' इति न्यायेन प्रत्ययार्थस्य नियोगस्यैव प्राधान्याद् दर्शनस्य प्रकृत्यर्थतया गुणभूतत्वेन तद्विशेषणस्य ब्रह्मणोऽपि सुतरां गुणभावः स्यात्; ततो न वेदान्तैर्ब्रह्म सिध्येत्। फलत्वेन प्रधानं ब्रह्मदर्शनमुद्दिश्य श्रवणविधाने तु न कोऽपि दोषः।

वाक्यभेदश्च किमेकदेशिनाऽऽपाद्यते किं वा तान्त्रिकेण? नाऽऽद्यः, वेदान्तेऽप्यवान्तरवाक्यभेदेन 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यत्र ज्ञानसाधनत्वेन यज्ञादिविध्यङ्गीकारात्। न द्वितीयः, प्रेताग्निहोत्रप्रकरणे 'अधस्तात् समिधं

---

फलतः नियमविधिका व्यवहार होगा। यदि शङ्का हो कि श्रवणविधि माननेसे समन्वयसूत्रके भाष्यके साथ विरोध होगा? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त भाष्यमें दर्शनविधिका ही निराकरण किया गया है, श्रवणविधिका निराकरण नहीं किया गया है। कारण यह है कि यदि आत्मसाक्षात्कारका विधान किया जाय, तो 'प्रकृतिप्रत्ययौ'० ('प्रकृति और प्रत्यय दोनों मिलकर प्रधानरूपसे प्रत्ययके अर्थका ही अभिधान करते हैं) इस न्यायसे नियोगरूप (प्रेरणारूप) प्रत्ययार्थके ही मुख्य होनेसे प्रकृतिका अर्थ होनेके कारण दर्शन (साक्षात्कार) गौण होगा और दर्शनमें विशेषणतया प्रविष्ट ब्रह्म तो अत्यन्त गौण अर्थात् अमुख्य होगा। इस परिस्थितिमें वेदान्तवाक्योंसे ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकेगी, [ अतः दर्शनविधिके निराकरणमें ही समन्वयसूत्रके भाष्यका तात्पर्य है, श्रवणविधिके निराकरणमें उसका तात्पर्य नहीं है, यह भाव है ]। यदि फलरूपसे प्रधानीभूत ब्रह्मसाक्षात्कारको उद्देश्य करके श्रवणका विधान करें, तो कोई भी दोष नहीं है।

और [ वेदान्तवाक्योंके विधिपरक और ब्रह्मपरक माननेमें वाक्यभेद प्रसक्त होगा, ऐसा जो पीछे कहा गया है, उसपर कहते हैं कि ] क्या किसी एकदेशी वेदान्तीने वाक्यभेदका अपादान किया है या पूर्वमीमांसकने? इनमें पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अवान्तर वाक्योंके भेदसे वेदान्तमें भी 'विविदिषन्ति यज्ञेन' (यज्ञोंसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करते हैं) इत्यादि स्थलोंमें ज्ञानके साधनरूपसे यज्ञ आदिकी विधिका अङ्गीकार किया गया है।

---

अवघातविधि नियमविधि नहीं है, ऐसा यदि कहा जाय, तो यह प्रकार विचारमें भी लागू हो सकता है, क्योंकि वेदान्तविचारसे ही ब्रह्मज्ञान होता है, अन्य साधनोंसे नहीं होता, इस प्रकार श्रवणविधिको अपूर्वविधि माननेसे भी फलतः नियमविधि हो सकती है, यह भाव है।

धारयन्ननुद्रवेत्' इत्यधोधारणं विधाय 'उपरि हि देवेभ्यो धारयति' इति पठितम्। तत्र दैविकमुपरिधारणमन्यप्रकरणमध्ये श्रुतमपि विधेयमिति 'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इत्यधिकरणे निर्णीतत्वात्।

अथ कथञ्चिदेतदधिकरणं प्रभाकरो नाऽङ्गीकुर्यात् तथापि दर्शपूर्णमासप्रकरणे 'तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत्' इति रजस्वलाया व्रतकलापविधिमङ्गीकरोत्येव। तस्माद् ब्रह्मप्रकरणेऽपि श्रवणं विधीयतां का तव हानिः? अथ व्रतकलापस्य प्रकरणान्वयासम्भवादगत्या वाक्यभेदाश्रयणम्, इह तु तव्यप्रत्ययस्याऽर्हार्थत्वेनाऽप्यन्वयसंभवान्न तद्युक्तमिति तवाऽपरितोषः, तर्हि 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य' इत्यादि वाक्यं श्रवणादिविधायकमस्तु, तस्याऽनारभ्याऽधीतत्वेनोक्तविरोधा-

---

द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रेताग्निहोत्रप्रकरणमें 'अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेत्' ( स्रुग्दण्डके नीचे समिधाको रखकर आवसथ्य अग्निके पास जायं) इस श्रुतिसे अधोधारणका विधान करके 'उपरि हि देवेभ्यो धारयति' ( देवताओंके लिए स्रुग्दण्डके ऊपर समिधा रक्खे ) इस प्रकारका वाक्य पढ़ा गया है। इसमें देवतोद्देश्यक उपरिधारण यद्यपि अन्य प्रकरणमें ( प्रेताग्निहोत्र प्रकरणमें ) श्रुत है, तथापि वाक्यभेदसे उपरिधारणका विधान किया जाता है, इस प्रकारका निर्णय 'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' ( पूर्वमी० अ० ३ पा० ४ सूत्र १५ ) इस सूत्रमें किया गया है।

यदि इस अधिकरणको प्रभाकर किसी तरहसे न माने तो दर्शपूर्णमासप्रकरणमें 'तिस्रो रात्रीर्व्रतं चरेत्' इस वाक्यसे वाक्यभेदका अङ्गीकार करके उसके मतमें भी रजस्वलाके व्रतोंका विधान किया ही गया है। इसलिए ब्रह्मप्रकरणमें वाक्यभेदसे श्रवणका विधान किया जाय, तो भी तुम्हारी क्या हानि है? यदि तुम्हे असन्तोष हो कि रजस्वलाके व्रतकलापका दर्शपूर्णमासप्रकरणमें अन्वय नहीं हो सकता है, इसलिए अगत्या हमको वाक्यभेदका अवलम्बन करना पड़ता है, और प्रकृत 'श्रोतव्यः' इत्यादि ब्रह्मप्रकरणस्थ वाक्योंमें तो 'तव्य' प्रत्ययका अर्ह ( योग्य ) अर्थ हो सकता है, अतः वाक्यभेद करना युक्त नहीं है, तो 'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य' † इत्यादि वाक्य ही श्रवणका विधायक है, कारण कि यह वाक्य किसी दूसरे प्रकरणका आरम्भ करके नहीं पढ़ा गया है, अतः पूर्वोक्त रीतिसे प्रकरणविरोध

भावात्। आपाततः श्रवणाद्यप्रतीतावपि वाक्यपर्यालोचने वाक्यस्य श्रवणादिविधिपरत्वात्। सूत्रकारेणैव 'सहकार्यन्तरविधिः' इति सूत्रे पाण्डित्यबाल्ययोः श्रवणमननरूपत्वेन विधिं सिद्धवत्कृत्य 'अथ मुनिः' इति वाक्यशेषे निदिध्यासनरूपत्वेन मौनस्य विधित्वप्रतिपादनाद् असाम्प्रदायिकत्वं दूरापास्तम्। ननु एवमपि अधीत्य स्वाध्यायेनाऽवगतस्य 'श्रोतव्यः' इत्यस्य श्रवणविधेरनुपपत्तिस्तदवस्थैवेति चेत्, न; तव्यप्रत्ययस्य विधावपि स्मरणात्। 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्यादिषु समानप्रकरणेषु श्रुत्यन्तरेषु श्रवणस्य अवश्यं वाक्यभेदेन विधेरङ्गीकर्तव्यतया त्वदपरितोषस्य निरवकाशत्वात्। न चैकस्यामेव शाखायां 'श्रोतव्यः' 'पाण्डित्यं निर्विद्य' इति

---

या वाक्यभेद प्रसक्त नहीं हो सकते हैं। यद्यपि उक्त वाक्यमें अर्थात् 'ब्राह्मणः पाण्डित्यम्' इत्यादि वाक्यमें पाण्डित्य शब्दको सुनते ही आपाततः 'पण्डिताई' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है, श्रवणरूप अर्थ प्रतीत नहीं होता, तथापि वाक्यका पूरा पर्य्यालोचन करनेसे उक्त वाक्य श्रवणका विधायक ही ज्ञात होता है। 'सहकार्यन्तरविधिः०' ( ब्र० सू० ३ । ४ । ४७ ) इत्यादि सूत्रमें सूत्रकारने ही पाण्डित्य और बाल्यकी क्रमशः श्रवण और मनन रूपसे विधि सिद्धसी करके 'अथ मुनिः' इस वाक्यशेषसे निदिध्यासनरूप मौनविधिका प्रतिपादन किया है, अतः इस वाक्यकी विधायकतामें असाम्प्रदायिकत्वका भी खण्डन हुआ समझना चाहिए। यदि कहो कि उक्त प्रकारसे श्रवणका विधान होनेपर भी वेद पढ़कर उससे ज्ञात 'श्रोतव्यः' इस श्रवणविधिकी, ‡ अनुपपत्ति ज्योंकी त्यों ही है, क्योंकि 'श्रोतव्यः' इस वाक्यमें विधायक प्रत्यय नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'तव्य' प्रत्ययका विधि भी अर्थ है। और समानप्रकरणमें पढ़े गये 'तद्विजिज्ञासस्व' (ब्रह्मका विचार करो) इत्यादि वाक्योंसे वाक्यभेद द्वारा श्रवणका विधान अवश्य करना होगा, ( क्योंकि इस स्थलमें विधायक लोट् लकार है) अतः तुम्हारा वाक्यभेदप्रयुक्त असन्तोष भी निरालम्बन ही है। यदि शङ्का हो कि एक ही शाखा में 'श्रोतव्यः' ( विचार करना चाहिए ) 'पाण्डित्यं निर्विद्य' ( पाण्डित्यका—श्रवणका—सम्पादन करके ) इस प्रकार दो बार श्रवणका

---

* भूतकालीन ब्राह्मणोंने श्रवण आदि साधनोंसे आत्माका साक्षात्कार करके जीवन्मुक्ति प्राप्त की थी, अतः इदानीन्तन ब्राह्मण भी श्रवणकी प्राप्ति करें, यह श्रुतिका अर्थ है।

श्रवणविधिद्वयं पुनरुक्तमिति वाच्यम्, एकत्र विधायाऽपरत्र विधिमनूद्य विशेषकथनात्। अथवा यथा द्विर्मैत्रेयीब्राह्मणमपुनरुक्तम्, एकस्योपसंहाररूपत्वात्; तथा द्विःश्रवणविधिर्भवतु। तस्मात् उपपद्यत एव श्रोतव्य इति विधिः ॥१॥

तत्र श्रवणं नाम वेदान्तवाक्यानि विचार्य 'उपक्रमादिभिर्लिङ्गैर्वाक्यतात्पर्यनिर्णयः' इति पुराणवचनेनोक्तम्। तथा च विरक्तेनाऽधिकारिणाऽमृतत्वसाधनभूतात्मदर्शनाय वेदान्तवाक्यविचारः कर्तव्य इति। एवं तावदधीतस्वाध्यायः पुमान् वेदादेवाऽवगत्य पश्चादेवं संदिग्धे—किं वैराग्यमात्रमधिकारिविशेषणम् उताऽन्यदप्यस्ति ? नानाविशेषणेषु तद्विशिष्टाधिकारिणि च किं प्रमाणम् ? वेदान्तवाक्यविचारश्च धर्मविचारेणैव गतो न वा ? कथं वा वेदान्तवाक्यानि विचार्याणि ? किंलक्षणमात्मतत्त्वम् ? तस्मिंश्च किं प्रमाणम् ?

---

विधान करनेसे पुनरुक्ति होगी, तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उन दो वाक्योंमें एक वाक्यसे श्रवणका विधान कर दूसरे वाक्यसे अनुवाद करके विशेषका कथन किया जाता है। अथवा जैसे एकके उपसंहाररूप होनेसे दो बार कहे गये मैत्रेयीब्राह्मणमें पुनरुक्ति नहीं है ? वैसे ही एकके उपसंहाररूप होनेसे दो बार कही गई श्रवणविधि भी पुनरुक्तिदोषग्रस्त नहीं है। इससे श्रवणको विधि मानना युक्ति-युक्त ही है ॥१॥

श्रवण, मनन और निदिध्यासनोंमें से पूर्वोक्त पुराणवचनसे श्रवणका—वेदान्तवाक्योंका खूब सोच समझकर उपक्रम आदि हेतुओं द्वारा किया गया तात्पर्य-निर्णय—अर्थ कहा गया है। इस परिस्थितिमें विरक्त अधिकारीको मोक्षके प्रति कारणभूत आत्मसाक्षात्कारके लिए वेदान्तवाक्योंका विचार करना चाहिए, यह सिद्ध होता है। वेदका अध्ययन करनेके बाद अधिकारी पुरुष—स्वाध्यायसे ही 'आत्मज्ञानके लिए श्रवण करना चाहिए'—यह जानकर फिर इस प्रकार सन्देह करता है—क्या वैराग्य ही अधिकारीका विशेषण अर्थात् अधिकारिताकी योग्यताका सम्पादक है ? अथवा दूसरा भी कोई अधिकारिताका सम्पादक विशेषण है ? यदि दूसरे भी विशेषण हैं, तो उन विशेषणोंसे युक्त अधिकारीमें क्या प्रमाण है ? वेदान्तका विचार धर्मके विचारसे गतार्थ है अथवा नहीं ? अर्थात् वेदान्तवाक्योंका विचार धर्मविचारसे गतार्थ हो सकता है ? या नहीं ? किस प्रकार वेदान्तवाक्योंका विचार करना चाहिए ? आत्मतत्त्वका क्या लक्षण है ? और

तस्य च प्रमाणस्याऽस्ति केनचिद् विरोधो न वा ? तत्त्वगोचरज्ञानं च किं कर्मभिः समुच्चित्याऽमृतत्वसाधनम् उत केवलमेव ? केवलस्य साधनत्वे वा किं प्रमाणम् ? कीदृशममृतत्वं किंप्रमाणकं चेति। त एते संदेहा अन्येऽप्येवंविधा नानाविधैर्न्यायैर्निर्णेतव्याः । तांश्च न्यायान् परमकृपालुर्भगवान् बादरायणः सूत्रयितुकामः प्रथमतः 'श्रोतव्यः' इति वाक्ये प्रतिपन्नमधिकारिविषयफलाख्यानुबन्धत्रयोपेतं विधिं न्यायेन निर्णयंस्तदर्थभूतविचारकर्तव्यतां वक्ष्यमाणकृत्स्नशास्त्रप्रवृत्तिहेतुत्वेनोपोद्घातभूतां सूत्रयामास—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति ।

तत्र 'आत्मनस्तु कामाय' इति वाक्ये विरक्त्युपलक्षितसाधनचतुष्टयसपन्नो य एवाऽधिकारी प्रतीयते स एव अथशब्दार्थः । 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' इति वाक्ये वित्तोपलक्षितलौकिकवैदिककर्मभिरमृतत्वं नास्तीति यदुक्तं

---

उसमें प्रमाण क्या है ? यदि उसमें कोई प्रमाण है, तो उसके साथ किसी प्रमाणका विरोध है अथवा नहीं ? तत्त्वविषयक विज्ञान क्या कर्मोंकी सहकारितासे अमृतत्वका साधन है, अथवा वह स्वतन्त्र ही उसका साधन है ? यदि स्वतन्त्र ही साधन है, तो उसमें प्रमाण क्या है, अमृतत्व कैसा है ? और उसमें क्या प्रमाण है ? इस प्रकारके सन्देहोंका और इनके समान अन्य कई सन्देहोंका भी अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे निर्णय करना चाहिए। उन युक्तियोंका, अत्यन्त कृपालु भगवान् वेदव्यासजीने, एकरूपसे सूत्रों द्वारा ग्रथन करनेके लिए पहले 'श्रोतव्यः' इस वाक्यसे अवगत अधिकारी, विषय और सम्बन्ध रूप तीन अनुबन्धोंसे युक्त विधिका निर्णय करते हुए उपोद्घातभूत विचारकर्तव्यतारूप श्रवणके अर्थको, जो कि कहे जानेवाले सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रमें प्रवृत्तिका प्रयोजक है, 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' ( ब्र० सू० अ० १ पा० १ सू० १ ) इस सूत्रसे सूत्रित किया है ।

'आत्मनस्तु कामाय' ( आत्माके काम—सुखके लिए ) इत्यादि वाक्यमें वैराग्यसे उपलक्षित चार साधनोंसे युक्त जो अधिकारी प्रतीत होता है, वही सूत्रस्थित 'अथ' शब्दका अर्थ है। 'अमृतत्वस्य तु नाशाऽस्ति०' ( द्रव्यसे अर्थात् लौकिक-वैदिक कर्मोंसे अमृतत्वकी आशा नहीं है ) इस वाक्यका—वित्तशब्दसे उपलक्षित अर्थात् द्रव्यसाध्य लौकिक और वैदिक कर्मोंसे अमृतत्वकी आशा नहीं है, इस प्रकार—जो अर्थ है, वही 'अतः' शब्दका हेतुरूप

तदेवाऽतःशब्देन हेतूक्रियते । 'आत्मनि खलु' इत्यादिना वाक्येनाऽमृतत्वसाधनात्मदर्शनाय वेदान्तवाक्यविचाररूपं श्रवणं कर्तव्यमित्युक्तम्। तत्सर्वं ब्रह्मजिज्ञासापदेनाऽवगन्तव्यम् ।

नन्वेतत् सूत्रं विधायकमनुवादकं वा? नाऽऽद्यः, लिङ्-लोट्-तव्यप्रत्ययानामदर्शनात् । नेतरः, अप्रवर्तकेनाऽनेन श्रवणविध्यसङ्ग्रहप्रसङ्गात् , मैवम् ; 'कर्तव्या' इत्यध्याहार्यत्वात्। ज्ञानेच्छयोर्वस्तुतन्त्रयोः कर्तुमशक्यत्वात् अध्याहृतेन जिज्ञासापदं नाऽन्वियादिति चेत्, तर्ह्यनयैवाऽनुपपत्त्या जिज्ञासापदेनाऽनुष्ठानयोग्यो विचारो लक्ष्यताम्। अविनाभावसम्बन्धश्च सन्दंशन्यायप्रसादात् सुसंपादः। संदष्टो हि ज्ञानेच्छाभ्यां विचारः। प्रथमत इच्छायां सत्यां

---

अर्थ किया जाता है। 'आत्मनि खलु' इत्यादि वाक्योंसे जो यह कहा गया है कि अमृतत्वके प्रति साधनभूत आत्मदर्शनके लिए वेदान्त-विचाररूप श्रवण करना चाहिए, वही सब 'ब्रह्मजिज्ञासा' शब्दका अर्थ है।

यदि शङ्का हो कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यह सूत्र विधायक है या अनुवादक है? पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि सूत्रमें लिङ्, लोट् और तव्य प्रत्यय देखनेमें नहीं आते [ जिससे कि विधायक समझा जाय ]। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो अनुवादक होता है वह प्रवर्तक नहीं होता, अतः इस अनुवादक सूत्रसे श्रवणविधिका सङ्ग्रह नहीं होगा, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'कर्तव्या' पदके अध्याहारसे उक्त सूत्रको विधायक माननेमें कोई हानि नहीं है। यदि शङ्का हो कि ज्ञान और इच्छा तो वस्तुके अधीन हैं, अतः इनका विधान न होनेसे अध्याहृत 'कर्तव्या' शब्दका जिज्ञासाशब्दके साथ अन्वय नहीं हो सकता? तो इसपर यह कहते हैं कि इसी अन्वयकी अनुपपत्तिसे जिज्ञासाशब्दकी अनुष्ठानके योग्य पुरुषप्रयत्नसाध्य विचारमें लक्षणा करनी चाहिए, [ अतः उक्त दोष नहीं हो सकता है ]। इच्छा और ज्ञानके साथ विचारका अविनाभावसम्बन्ध 'सन्दंश' न्यायके प्रसादसे प्राप्त हो सकता है, क्योंकि ज्ञान और इच्छा दोनोंके द्वारा विचार पकड़ा गया है [ अर्थात् इच्छा होनेपर विचार होता है और विचार होनेपर ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः सँड़सीमें दोनों तरफसे जैसे कोई पदार्थ पकड़ा जाता है, वैसे ही विचार भी इच्छा

विचारे सति पश्चादेव ज्ञानोत्पत्तेः। न च वाच्यं लक्षणायां विचाराख्यो विषयानुबन्ध एव सिध्येद् न ब्रह्मज्ञानाख्यः फलानुबन्ध इति, अजहल्लक्षणया स्वार्थस्याऽपि स्वीकृतत्वात्।

ब्रह्मज्ञानजनकत्वान्यथानुपपत्त्या विचारस्य वेदान्तवाक्यविषयत्वं लभ्यते। नह्यन्यविचारकाणां ब्रह्मज्ञानमुपलभामहे। फलत्वान्यथानुपपत्त्या ब्रह्मज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वसिद्धिः। अधिकारिभिरिष्यमाणं हि फलम्। अत्र हि साधन-चतुष्टयसंपन्ना अधिकारिणो निःशेषदुःखोच्छित्तिनिरतिशयानन्दावाप्ती तत्सा-

और ज्ञानसे पकड़ा जाता है, अतः 'सन्दंश' न्यायसे अविनाभावसम्बन्ध हो सकता है, यह तात्पर्य है]। यदि शङ्का हो कि जिज्ञासाशब्दकी विचारमें लक्षणा माननेपर विचार रूप विषयकी ही सिद्धि होगी, ब्रह्मज्ञानरूप फलानुबन्धकी सिद्धि नहीं होगी, * तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि [ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें रहनेवाले ब्रह्मजिज्ञासाशब्दकी ] अजहल्लक्षणा मानी जाती है, अतः ब्रह्मज्ञानरूप स्वार्थका भी अङ्गीकार होता है।

विचारमें जो वेदान्तवाक्योंकी विषयता है, वह ब्रह्मज्ञानके प्रति कारणताकी अन्यथानुपपत्तिसे प्राप्त होती है, क्योंकि वेदान्तशास्त्रके सिवा अन्य शास्त्रका विचार करनेवालोंको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हुई हो, ऐसा कहीं-पर भी नहीं देखा जाता। फलत्वकी अन्यथानुपपत्तिसे ब्रह्मज्ञानमें मोक्ष-साधनताकी सिद्धि होती है। क्योंकि फल उसे कहते हैं—जिसकी अधिकारियों द्वारा इच्छा की गई हो। चार साधनोंसे सम्पन्न जो वेदान्तशास्त्रके अधिकारी हैं, वे सम्पूर्ण दुःखोंका उच्छेद और निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति तथा उनके साधनको छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं चाहते हैं, तत्त्वज्ञान दुःखका

* तात्पर्य यह है कि प्रवृत्तिमें प्रयोजक ज्ञानके विषयीभूत—विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी—इस प्रकारके चार अनुबन्ध हैं। यदि प्रकृतमें 'ब्रह्मजिज्ञासा' शब्दकी विचारमें लक्षणा मानी जायगी, तो विचाररूप विषयलक्षण अनुबन्धकी ही सिद्धि होगी और ब्रह्मज्ञानरूप फलानु-बन्धकी अर्थात् प्रयोजनरूप अनुबन्धकी सिद्धि नहीं होगी, अतः ब्रह्मजिज्ञासाशब्दकी विचारमें लक्षणा नहीं माननी चाहिए। इसका अजहल्लक्षणाके अङ्गीकार द्वारा परिहार करते हैं, जहाँ अजहल्लक्षणाका आश्रयण किया जाता है, वहाँ स्वार्थका परित्याग नहीं होता है, परन्तु अवान्तर-रूपसे स्वार्थका भी वह बोध करती है, जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' ( कौओंसे दहीकी रक्षा करो) यहांपर अजहल्लक्षणाके प्रभावसे स्वार्थ—काक और लक्ष्य-अकाक दोनोंका ग्रहण होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी ब्रह्मज्ञानरूप फलानुबन्धकी सिद्धि हो सकती है।

धनं च विहाय नान्यदिच्छन्ति। तत्त्वज्ञानस्य दुःखोच्छेदानन्दावाप्तिरूपत्वासंभवेन परिशेषात्तत्साधनत्वम्।

तदेवं साधनचतुष्टयसंपन्नस्य कर्मभिर्मोक्षासिद्धेर्मोक्षसाधनब्रह्मज्ञानाय वेदान्तवाक्यविचारः कर्त्तव्य इति श्रुतार्थः समग्रोऽपि सूत्रे संगृहीतः।

एवं शास्त्रप्रवृत्तिहेतुत्वं च विचारकर्त्तव्यताया अन्वयव्यतिरेकसिद्धम्। सति ह्यनुबन्धत्रयोपेते विधौ पुरुषाः प्रवर्त्तन्ते, ज्योतिष्टोमादौ तथा दर्शनात्। असति तु न प्रवर्तन्ते, सप्तद्वीपा वसुमतीत्यादौ प्रवृत्त्यदर्शनात्।

सा च विचारकर्त्तव्यता वक्ष्यमाणशास्त्रप्रवृत्तिहेतुभूता प्रथमसूत्रेणाऽनेनेत्थं निर्णीयते—

विमतं शास्त्रमारम्भणीयम्, सम्भावितविषयप्रयोजनत्वात्, कृष्यादिवदिति। न च सूत्रे विषयप्रयोजनानुपादानान्नाऽयं विषयः सूत्रसिद्ध इति

---

उच्छेद और आनन्दावाप्तिरूप नहीं हो सकता है, अतः परिशेषात् उन दोनोंके प्रति तत्त्वज्ञान साधन ही है।

उक्त प्रकारसे साधनचतुष्टयसम्पन्न पुरुषको कर्मोंसे मोक्षफल नहीं हो सकता है, अतः अधिकारीको मोक्षके साधनीभूत ब्रह्मज्ञानके लिए वेदान्त-वाक्योंका विचार करना चाहिए, इस प्रकार समग्र श्रुति द्वारा अभिप्रेत अर्थ इस 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्रमें संगृहीत किया गया है।

इस प्रकारसे अन्वय और व्यतिरेक द्वारा विचारकी कर्तव्यतामें शास्त्रके प्रति प्रवृत्तिकी हेतुता सिद्ध हुई, क्योंकि तीन अनुबन्धोंसे युक्त विधिमें पुरुष प्रवृत्त होते हैं, ऐसा ज्योतिष्टोम आदिमें देखा जाता है। और तीन अनुबन्धोंसे शून्य वस्तुमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि 'सप्तद्वीपा वसुमती' ( पृथ्वी सात द्वीपोंसे युक्त ) इत्यादिमें प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। और वह विचारकी कर्तव्यता आगे कहे जानेवाले शास्त्रमें प्रवृत्तिकी जनक है, अतः उसका इस प्रथम सूत्रसे निम्न लिखित प्रकारके न्यायवाक्योंसे इस प्रकार निर्णय किया जाता है—

विवादग्रस्त वेदान्तशास्त्रका आरम्भ करना चाहिए, क्योंकि इस शास्त्रके विषय तथा प्रयोजनरूप दोनों अनुबन्धोंका सम्भव है, जैसे कि कृषि ( खेती ) आदिका—उसके विषय और प्रयोजनके सम्भावित होनेसे—आरम्भ किया जाता है।

यहांपर यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि सूत्रमें विषय और प्रयोजनका कथन न होनेसे यह विषय सूत्र द्वारा सिद्ध ही नहीं है, क्योंकि

शङ्कनीयम्, मुखतोऽनुपादानेऽप्यर्थात् सूचितत्वात्। सूत्रस्य हि सूचनमलङ्कारः, न तु दोषाय। तत्र तावद् 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादिशास्त्रेण विचार्याणां वेदान्तानां 'स वा अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं ब्रह्मात्मैकत्वं विषयः। तच्चैकत्वमखण्डैकरसवस्तुप्रतिपादकेन ब्रह्मशब्देन सूत्रे सूत्रितम्। 'तरति शोकमात्मवित्' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं दुःखोच्छेदब्रह्मप्राप्ती प्रयोजनम्। ते च तत्साधनभूतब्रह्मज्ञाननिर्देशात् सूत्रिते एव। न केवलं सूत्रकारो विषयप्रयोजने सूत्रितवान्, किन्तु तयोरुपपादनं चैवमभिप्रेयाय— विमतं शास्त्रं सम्भावितविषयप्रयोजनम्, अविद्यात्मकबन्धप्रत्यनीकत्वात्, जाग्रद्बोधवदिति।

न च बन्धस्याऽविद्यात्मकत्वमसूत्रसूचितमिति वाच्यम्, बन्धस्य

---

सूत्रकारने साक्षात् अपने मुखसे (अपने शब्दोंसे) यद्यपि ऐसा नहीं कहा है, तो भी अर्थतः सूचित कर दिया है। वाचक शब्दोंसे अभीष्ट अर्थका साक्षात् प्रतिपादन न कर अर्थात्—व्यञ्जना वृत्तिसे—उस अर्थका बोधन करना सूत्रोंका अलङ्कार ही है, दोष नहीं है। पहिले विषयको लीजिए—'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रों द्वारा विचार किये जानेवाले जो वेदान्तवाक्य हैं, उनका—'स वा अयमात्मा ब्रह्म (यह आत्मा ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे सिद्ध ब्रह्मात्मैक्य ही—विषय है, उस एकत्वरूपी विषयको—अखण्डैकरस वस्तुका बोध करानेवाले ब्रह्मशब्दके रखनेसे सूत्रकारने—सूचित किया। 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मज्ञानी शोकसे पार होता है) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (ब्रह्मज्ञानवाला पर पदको प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे अवगत दुःखविनाश तथा परम पदकी प्राप्ति रूप फल ही वेदान्तके प्रयोजन हैं। और इन दोनों प्रयोजनोंको इनके उपायभूत ब्रह्मज्ञानके निर्देशसे ब्रह्मजिज्ञासापदसे ही सूचित कर दिया है। सूत्रकारने विषय तथा प्रयोजनको ही सिर्फ सूचन नहीं किया, बल्कि निम्नलिखित प्रकारसे इनका स्पष्ट उपपादन भी किया है—विवादग्रस्त शास्त्र विषय तथा प्रयोजन दोनोंकी सम्भावनासे युक्त है, अविद्यास्वरूप बन्धका विरोधी (उच्छेद करनेवाला) होनेसे, जाग्रत् अवस्थाके ज्ञानके समान। यदि कहो कि बन्ध अविद्यात्मक है, इसको सूत्रकारने अपने सूत्रमें नहीं कहा है, अतः

ज्ञाननिवर्त्यत्वाङ्गीकारेणैव तत्सूचनात् । तथा हि—निःशेषदुःखनिवर्तकत्वं तावद् ब्रह्मज्ञानस्य फलत्वसिद्धये सूत्रकारेणाऽङ्गीकृतम् । प्रमातृत्वकर्तृत्व-भोक्तृत्वादिबन्धश्च सर्वोऽपि दुःखबीजत्वाद् दुःखमेव । तत्र विचारणीयम्—किमयं बन्धः पारमार्थिकः स्यादपारमार्थिको वेति । आद्ये ब्रह्मज्ञानान्न निवर्तेत । ये त्वेकदेश्यादयः पारमार्थिकस्यैव ज्ञानान्निवृत्तिमङ्गीकुर्युस्ते प्रष्टव्याः—ज्ञानं स्वविषये वा निवृत्त्याख्यमतिशयं जनयति स्वाश्रये वा ? आद्येऽपि स्वविषयं संसारिणमात्मानमेव निवर्तयेद् , उत तद्गतं धर्ममात्रम् , अथवा स्वबोध्याखण्डैकरसत्वविरोधिन एव कर्तृत्वादीन् , किं वा विषय-गतानवबोधमेव ? न तावत् प्रथमद्वितीयतृतीयाः, नहि नानावर्णे चूतादि-

---

अविद्यात्मक बन्ध नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे बन्धनकी निवृत्ति माननेसे सूत्रकारने अर्थतः बन्धकी अविद्यात्मकता सूचित कर ही दी है । कारण कि सूत्रकारने ब्रह्मज्ञानको वेदान्तशास्त्रके फलकी सिद्धि करनेके लिए दुःखका उच्छेद करनेवाला मान ही लिया है । और प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सम्पूर्ण बन्ध भी दुःखके प्रति हेतु होनेसे स्वयं दुःखरूप ही हैं । इस परिस्थितिमें यहांपर इस प्रकार विचारना चाहिए—यह बन्ध (संसार) पारमार्थिक ( सत्य ) है अथवा अपारमार्थिक ( मिथ्या ) है ? यदि कहो कि पारमार्थिक है, तो उसकी ब्रह्मज्ञानसे निवृत्ति नहीं हो सकेगी । जिन भास्कर आदि एकदेशियोंने पारमार्थिक सत्य वस्तुकी ही ज्ञानसे निवृत्ति मानी है, उनके प्रति प्रश्न करना चाहिए कि क्या ज्ञान अपने विषयमें निवृत्ति नामका कोई विशेष उत्पन्न करता है ? अर्थात् ज्ञानके होनेसे उसका विषय निवृत्त हो जाता है अथवा क्या अपने आश्रयमें वह ज्ञान उक्त विशेषको उत्पन्न करता है अर्थात् ज्ञान अपने आश्रयको ही हटा देता है ? यदि प्रथम पक्ष मानो, तो उसमें भी प्रश्न इस प्रकार किये जा सकते हैं कि क्या वह ज्ञान अपने विषयीभूत केवल संसारी आत्माकी ही निवृत्ति करता है ? अथवा अपने विषयमें रहनेवाले सम्पूर्ण धर्मोंकी निवृत्ति करता है ? अथवा आत्मपदसे ज्ञात होनेवाले अखण्डैकरसके विरोधी—कर्तृत्व आदि धर्मोंकी ही निवृत्ति करता है ? या केवल विषयके अज्ञानकी निवृत्ति करता है ? परन्तु इन विकल्पोंमें से प्रथम, द्वितीय और तृतीय विकल्प तो युक्त ही नहीं हैं, क्योंकि विचित्र वर्णवाले

फले नीलभागज्ञानं स्वविषयं वा तत्समवेतरसादिकं वा विरोधिनं पीतिमादिगुणं वा निवर्तयति। चतुर्थे त्वस्मन्मतापत्तिः। आश्रयातिशयपक्षेऽपि किमाश्रयनिवृत्तिः, किं वा तद्गुणानाम् उताश्रयविषयोभयसंबन्धिधर्माणाम् ? नाऽऽद्यः, प्रतिक्षणमात्मविनाशापत्तेः। न द्वितीयः, घटज्ञानेनाऽऽत्मगतधर्मादिगुणानिवृत्तेः। न तृतीयः, स्वदेहज्ञानेन देहात्मसंबन्धाद्यनिवृत्तेः। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इति श्रुतत्वाद् वास्तवोऽपि बन्धो ज्ञाननिवर्त्य इति चेद्,

---

अर्थात् चितकबरे आम आदि फलके नीलगुणविशिष्ट भागका परिज्ञान—अपने विषयीभूत फलको या उसमें ( आममें ) समवाय सम्बन्धसे रहनेवाले रस आदिको अथवा नीलके विरोधी पीत आदि गुणोंको—निवृत्त नहीं करता है। यदि चतुर्थ विकल्पका अर्थात् ज्ञान विषयगत अज्ञानकी निवृत्ति करता है, इस चौथे विकल्पका अङ्गीकार किया जाय, तो हमारे (वेदान्तियोंके) मतमें ही तुम्हारा आना हुआ। ज्ञान अपने आश्रयमें ( आत्मामें ) अतिशयको—निवृत्ति नामके विशेषको—उत्पन्न करता है, इस द्वितीय विकल्पका अङ्गीकार यदि किया जाय, तो उसमें भी प्रश्न होता है कि क्या वह ज्ञान आश्रयकी ( आत्माकी ) ही निवृत्ति करता है ? अथवा उसके गुणोंकी निवृत्ति करता है अथवा आश्रय और विषय दोनोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले धर्मोंकी निवृत्ति करता है ? इनमें पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानसे आश्रयकी निवृत्ति माननेसे प्रतिक्षण ज्ञानके होनेसे प्रत्येक क्षणमें आत्माके विनाशकी प्रसक्ति होगी। द्वितीय विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि घटज्ञानसे आत्माके गुणोंकी निवृत्ति नहीं देखी जाती। तीसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि अपनी देहका ज्ञान होनेसे शरीर और आत्माके सम्बन्ध आदि निवृत्त नहीं होते। यदि* शङ्का हो कि 'तमेव विदित्वा०' ( उस परमात्माको जानकर विद्वान् पुरुष मृत्यु—संसार—को पार कर जाता है ) इस प्रकारकी श्रुतिमें प्रपञ्चकी उक्ति होनेसे संसारके सत्य

---

* शङ्काका अभिप्राय यह है कि यदि बन्ध मिथ्या होता, तो मिथ्यापदार्थ कुछ है ही नहीं फिर उसकी निवृत्तिके उपायको दिखलानेकी आवश्यकता ही क्या थी ? उपाय दिखाया गया है, अतः बन्धनकी सत्यता माननी होगी।

नः श्रुतेर्बन्धसत्यत्वासत्यत्वयोस्ताटस्थ्यात् । अस्माभिस्तु श्रुतोपपत्त्यर्थं बन्धस्याऽविद्यात्मत्वं कल्प्यते । यथा ज्योतिष्टोमादीनां श्रुतस्य स्वर्गसाधनत्वस्योपपत्त्यर्थमपूर्वं भवद्भिः कल्प्यते तद्वत् । अथ तत्र क्षणिकानां कर्मणां कालान्तरभाविफलसाधनत्वाभावव्याप्तिनियमः कल्पकोऽस्ति, तर्हीहाऽपि 'ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकम्' इति व्याप्तिनियमः कल्पकोऽस्तु । अतोऽपारमार्थिकत्वमवशिष्यते बन्धस्य । तदेवं ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यस्य बन्धस्याऽज्ञानात्मकत्वं सूत्रेणैव सूचितम् ।

माननेपर भी उसकी ज्ञानसे निवृत्ति हो सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुति केवल इतना ही प्रतिपादन करती है कि बन्ध ( संसार ) केवल ज्ञानसे निवृत्त होता है, बन्ध सत्य है या मिथ्या, इस विषयमें श्रुति तटस्थ है † । अतः श्रुतिप्रतिपादित अर्थकी उपपत्तिके लिए हम बन्धको अविद्यात्मक मानते हैं । जैसे कि 'स्वर्गका * यजेत' ( स्वर्गकी इच्छावाला याग करे ) इस श्रुतिवाक्यसे बोधित स्वर्गसाधनताकी ज्योतिष्टोम आदि यागमें सङ्गतिके लिए आप (मीमांसक) भी अपूर्वकी कल्पना करते हैं । यदि शङ्का हो कि याग तो क्रियाकलापरूप है, और क्रिया क्षणिक है अर्थात् अस्थायी है, तथा स्वर्ग आदि फल यागके अव्यवहित उत्तर क्षणमें तो होते नहीं, किन्तु कुछ कालके बाद होते हैं, अतः कार्यके अव्यवहित पूर्वकालमें रहनेवाला ही कारण हो सकता है, इस नियमसे क्रियात्मक याग स्वर्गके प्रति साधन नहीं हो सकता है, इससे श्रुतिकी सङ्गतिके लिए अपूर्वकी कल्पना की जाती है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तुल्ययुक्त्या हम भी कहेंगे कि 'ज्ञानमज्ञाननाशकम्' अर्थात् ज्ञान अज्ञानका नाशक होता है, यह लौकिक नियम ही बन्धकी अज्ञानात्मकताका कल्पक है । इसलिए बन्धका अपारमार्थिकत्व ही (मिथ्यात्व ही) अवशिष्ट रह जाता है । अतः पूर्वोक्त सम्पूर्ण शास्त्रार्थसे ब्रह्मज्ञानसे निवृत्त होनेवाले बन्धकी अज्ञानात्मता ही सूत्र द्वारा सूचित की गई ।

† तात्पर्य यह है कि बन्धका सत्यत्व या मिथ्यात्व जो उपपन्न हो उसे मान लीजिए, इसमें श्रुतिका कोई विरोध नहीं है । अब हमसे पूछिए—बन्ध सत्य है या मिथ्या? हम कहेंगे कि बन्धको सत्य मानकर उसकी ज्ञानसे निवृत्ति माननेमें पूर्वोक्त दोष आते हैं, और सत्य वस्तुकी निवृत्तिका सम्भव भी नहीं है । प्रपञ्चकी ईश्वरज्ञानसे निवृत्ति मानना भी दृष्टान्तकोटिको नहीं पा सकता, क्योंकि निवृत्त होनेवाला प्रपञ्च तो हमारे मतमें मिथ्या ही है । अब परिशेषात् बन्धको मिथ्या ही मानना होगा । इससे उसकी निवृत्तिका भी सम्भव हो सकता है । बन्धको अविद्याकल्पित माने बिना श्रुतिका, ब्रह्मज्ञानसे मृत्युका पार करना, यह अर्थ करना कभी भी सङ्गत नहीं हो सकता ।

नन्वेवं तदविद्यात्मकत्वं सूत्रकारेण मुखत एव वर्णनीयम्, विषयप्रयोजन-साधनद्वारा कृत्स्नशास्त्रारम्भसमर्पकत्वात्। मुखतोऽप्रतिपादनेऽतात्पर्यप्रसङ्ग इति चेत्, तर्हि वर्णितमेवैतन्मुखतो द्वितीयाध्याये 'तद्गुणसारत्वात्' इत्यादि-सूत्रे। सूत्रस्य चाऽयमर्थः—आत्मनो देहोत्क्रान्तिपरलोकगत्येतल्लोकागतीनां श्रुतत्वात् सर्वगतत्वं विरुद्धमिति चेद्, बुद्धिगुणसारत्वात्। बुद्ध्यात्मनोरि-तरेतरतादात्म्याध्यासेन बुद्धिगुणेष्वेवोत्क्रान्त्यादिषु सर्वगतस्याऽऽत्मनोऽभि-मानमात्रं जायते। तच्च श्रुत्याऽनूद्यते—निजस्वरूपबोधनायेति। तर्हि

---

पुनः शङ्का करते हैं कि यदि बन्ध अविद्यात्मक है, यह सूत्रकारको अभिमत है, तो उन्हें अपने मुखसे ही बन्ध अविद्यात्मक है, ऐसा कहना चाहिए था, क्योंकि मुखतः प्रतिपादित बन्धका अज्ञानात्मकत्व ही सम्पूर्ण शास्त्रका प्रारम्भ करनेमें हेतु होता है। यदि उसका अर्थात् बन्धकी अविद्यात्मकताका सूत्रकारने मुखसे प्रतिपादन नहीं किया है, तो सूत्रकारका उसमें तात्पर्य भी नहीं हो सकता है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि बन्धकी अविद्यात्मकताका द्वितीय अध्यायमें 'तद्गुणसारत्वात्' इत्यादि सूत्रमें स्पष्टरूपसे अपने ही मुखसे सूत्रकारने प्रतिपादन किया है। उक्त सूत्रका यह अर्थ है—

आत्माकी देहसे उत्क्रान्ति विरुद्ध है (निकलना), परलोककी यात्रा और इस लोकमें आगति (आना) श्रुतिमें सुनी जाती हैं, अतः उसका सर्वगतत्व (सब जगह रहना) विरुद्ध है, [ अर्थात् जो सर्वत्र विद्यमान है, उसका आना, जाना और निकलना कैसे बन सकता है, क्योंकि वह तो सर्वत्र विद्यमान ही है, फिर उसका कहांसे और कहां आना जाना हो? यदि जैसे हम एक गांवसे दूसरे गांवमें जाते हैं वैसे ही वह भी इस लोक और परलोकमें जाता आता है, ऐसा माना जाय, तो वह सर्वगत सब कालमें सब जगह विद्यमान कैसे होगा? ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सूत्रकार उत्तर देते हैं ]—'तद्गुणसारत्वात्' सूत्रमें तत्पदका अर्थ बुद्धि, जो मन, अन्तःकरण आदि नामसे भी कही जाती है, लिया गया है। उसके गुण काम-सङ्कल्प या गमनाऽगमन आदि लिए जाते हैं। सूत्रार्थ हुआ—बुद्धि और आत्माका इतरेतराध्यास होनेसे बुद्धिके पूर्वोक्त जाना-आना आदि गुणोंमें सर्वगत आत्माको अभिमानमात्र हो जाता है, उस अध्यासमूलक स्वगतत्वाभिमानको ही लेकर 'अपनी गति, आगति, उत्क्रान्ति आदि माननेवाले अरे जीव! तू सर्वगत आत्मा है'

कृत्स्नशास्त्रारम्भं प्रत्युपोद्घातत्वात् प्रथममेवाऽध्यासविषयं सूत्रं प्रणेतव्यम्। उपोद्घातश्च प्रतिपाद्यमर्थं बुद्धौ संगृह्य प्रागेव तदर्थमर्थान्तरवर्णनमिति चेद्, नः प्रतिपादने प्रवृत्तेन सूत्रकारेण विरोधपरिहारसूत्रस्य प्रथमतो वक्तुमशक्यत्वात्। प्रतिपाद्यं मुखतः प्रतिज्ञाय पश्चात् तत्सिद्धिहेतुप्रदर्शनं प्रतिपादनम्। तथा च प्रथमेनाऽध्यायेन ब्रह्मणि वेदान्तसमन्वयं प्रदर्श्य तदुपपादको विरोधपरिहारः पश्चात् कर्त्तव्यः। प्रथममप्रदर्शिते पुनः समन्वयविशेषे तद्विरोधाशङ्का तन्निराकरणं च निर्विषयं स्यात्।

नन्वेवमादावध्यासानुक्तौ विषयप्रयोजनासिद्धया शास्त्रप्रवृत्तिर्न स्याद्,

---

इस प्रकार केवल अपने स्वरूपका बोध करानेके निमित्त श्रुति अनुवाद करती है, अतः उक्त सूत्रका वाच्यार्थ यह हुआ कि सर्वगत आत्मामें कर्तृत्व आदि संसर्गाध्यासमूलक होनेसे मिथ्या हैं। इससे बन्ध अविद्यात्मक है, इसमें सूत्रकारका तात्पर्य स्वरसतः उपपन्न हुआ। यदि शङ्का हो कि ऐसी दशामें, यह सूत्र रचे जानेवाले इस सम्पूर्ण ब्रह्ममीमांसाशास्त्रके प्रति उपोद्घातरूप हुआ, इसलिए बन्धको मिथ्या कहनेवाला अध्यासप्रतिपादक सूत्र ही सर्वप्रथम लिखना चाहिए था, क्योंकि अपने वक्तव्य अर्थका बुद्धिमें सङ्ग्रहकर ग्रन्थप्रणयनसे पूर्व ही उसके अनुकूल दूसरे अर्थका वर्णन करना ही अर्थात् प्रतिपाद्य अर्थका प्रतिपादन करना ही उपोद्घात कहा जाता है [ संक्षेपतः इसका आशय यह हुआ कि वेदान्तका तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्यमें ही है, उसकी सिद्धि अध्याससिद्धिके अधीन है, अतः अध्यासका ही मुखतः प्रथम वर्णन करना उचित है ], तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सूत्रकार प्रतिपाद्यके प्रतिपादनमें प्रवृत्त हैं, इसलिए विरोध-परिहार करनेवाला उक्त सूत्र सर्वप्रथम—प्रतिपाद्यके प्रतिपादनसे पूर्व—नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतिपाद्य अर्थकी सर्वप्रथम साक्षात् तद्वाचक शब्दोंसे प्रतिज्ञा करके पश्चात् प्रतिपाद्य अर्थकी सिद्धि करनेवाले हेतु (न्यायवाक्य) का प्रयोग करना प्रतिपादन कहलाता है। इसलिए पहले अध्यायसे सभी वेदान्तोंका तात्पर्य ब्रह्म (ब्रह्मात्मैक्य) में ही है, यह दिखलाकर बादमें उसका प्रतिपादक विरोध-परिहार करना ही उचित समझा जाता है। यदि पहले समन्वयविशेषका प्रदर्शन न किया जाता, तो उसके विरोधकी आशङ्का और उसका परिहार निरर्थक होता।

इसपर भी यदि शङ्का हो कि यदि पहले अध्यासका स्वरूप न कहा जाय, तो विषय और प्रयोजनकी असिद्धि होनेसे शास्त्रमें प्रवृत्ति नहीं होगी? तो

मैवम्; प्रथमसूत्रेऽध्यासः साक्षादनुक्तोऽप्यर्थात् सूचित इत्युपपादितत्वात् सिध्यत्येव शास्त्रप्रवृत्तिः ॥२॥

ननु सूत्रसूचितोऽप्यध्यासो न युक्तिसहः। तथा हि—आत्मानात्मानौ इतरेतरतादात्म्याध्यासरहितौ, क्वाऽपीतरेतरभावरहितत्वात्, तमःप्रकाशवत्। न च हेत्वसिद्धिः, विमतौ तादात्म्यशून्यौ, विरुद्धस्वभावत्वात्, तमःप्रकाशवत्। न चाऽसिद्धो हेतुः, विमतौ विरुद्धस्वभावौ, युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरत्वाद्, देवदत्ततद्वैरिवत्। न च वाच्यं देवदत्तस्य स्वशरीरादिसंघातेऽस्मत्प्रत्ययस्तत्रैव तद्वैरिणो युष्मत्प्रत्ययः; न च तत्र विरोधोऽस्ति। एवं तद्वैरिण्यपि

---

यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रथम सूत्रमें यद्यपि साक्षात् अध्यास नहीं कहा गया है, तथापि अर्थात् उसका उपपादन किया गया है, अतः शास्त्रमें प्रवृत्ति हो सकती है ॥२॥

यदि शङ्का हो कि अध्यास सूत्र द्वारा सूचित होने पर भी युक्तियोंसे सिद्ध नहीं हो सकता है। कैसे? देखिए—आत्मा और अनात्मा परस्पर तादात्म्याध्याससे रहित हैं, कहींपर भी उनके परस्पर तादात्म्यकी उपलब्धि न होनेसे, प्रकाश और अन्धकारके समान। यदि शङ्का हो कि उक्त अनुमानके हेतुकी सिद्धि नहीं है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा और अनात्मा तादाम्याध्याससे रहित हैं, विरुद्धस्वभाववाले होनेसे, तम और प्रकाशके समान। यदि शङ्का हो कि इस अनुमानमें भी हेतुकी असिद्धि है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि विमत अर्थात् आत्मा और अनात्मा परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं, युष्मत्प्रत्यय और अस्मत्प्रत्ययके* विषय होनेसे, देवदत्त और उसके वैरीके समान। यदि शङ्का हो कि देवदत्तको अपने शरीर, इन्द्रिय आदि सङ्घातमें जहाँ अस्मत्प्रत्यय ( मैं व्यवहार ) होता है, वहींपर उसके वैरीको युष्मत्प्रत्यय ( तू व्यवहार ) होता है, परन्तु वहाँ विरोध नहीं है, वैसे ही देव-

---

* युष्मत्प्रत्यय और अस्मत्प्रत्यय हैं—तू और मैं इस प्रकारके व्यवहार। सामान्य घट, पट आदिका व्यवहार ही, जो आत्माके लिए नहीं होता है, युष्मत्प्रत्यय कहलाता है। आत्माके व्यवहारको अस्मत्प्रत्यय कहते हैं। घट, पट आदि जितने अनात्म पदार्थ हैं, वे सब के सब युष्मत्प्रत्ययके विषय हैं और आत्मा अस्मत्प्रत्ययका विषय है। आगेके ग्रन्थमें भी जहाँ युष्मत्प्रत्यय और अस्मत्प्रत्ययका प्रयोग हो, वहाँपर भी यही अर्थ समझना चाहिए।

प्रत्ययव्यत्यासेन योजने दृष्टान्तः साध्यविकलः स्यादिति। नहि भिन्नाश्रययोः प्रत्यययोर्विषयौ दृष्टान्तत्वेन विवक्ष्येते; किं तर्हि समानाश्रययोरिति। नहि प्रत्येकाकारौ दृष्टान्तत्वेन विवक्ष्येते; किं तर्हि देवदत्तप्रतीत्या तद्वैरिप्रतीत्या च सिद्धः समुदायाकारो दृष्टान्त इति नोक्तदोषः। स्यादेतत्—किमत्र लोकप्रसिद्धावात्मानात्मानौ पक्षीक्रियेते? किं वा प्राभाकरादिसिद्धौ? उत वेदान्तिसिद्धौ? नाऽऽद्यः, द्वयोरनुमानयोः सिद्धसाधनत्वात्। तृतीयानुमानस्याऽनुभवविरोधात्। लोके हि देहादिचैतन्यान्तसंघात आत्मा पाषाणादिरनात्मा। न च तयोरैक्याध्यासैक्ये वेदान्त्यभिमते। नाऽपि

---

दत्तके वैरीमें भी प्रत्ययको (व्यवहारको) उलटा करनेसे अर्थात् देवदत्तके वैरीको अपने शरीरसङ्घातमें जहाँ अस्मत्प्रत्यय—मैं, इस प्रकारका व्यवहार–होता है, उसी शरीरसङ्घातमें देवदत्तको युष्मत्प्रत्यय—तू, इस प्रकारका व्यवहार–होता है, इसीसे भी युष्मत्प्रत्यय और अस्मत्प्रत्ययका विरोध नहीं है, अतः दृष्टान्तवाक्य–तृतीय अनुमानमें जो 'देवदत्त और उसके वैरीके समान, यह जो दृष्टान्त दिया है—वह साध्यसे—विरुद्धस्वभाववत्त्वरूप साध्यसे—हीन होगा? तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि हम भिन्न-भिन्न पुरुषके व्यवहारके विषयको—युष्मत्प्रत्ययगोचर और अस्मत्प्रत्ययगोचरको—दृष्टान्तरूपसे नहीं कहते हैं, किन्तु समानाश्रयवाले प्रत्ययके विषयको कहते हैं, वैसे प्रत्येक अलग-अलग देवदत्त और उसके वैरी दृष्टान्त नहीं हैं, किन्तु देवदत्तकी और उसके वैरीकी प्रतीतिसे सिद्ध हुआ जो समुदायाकार है, उसको ही दृष्टान्त मानते हैं, अतः दृष्टान्त साध्यहीन नहीं हो सकता है। यहाँ शङ्का करते हैं कि इन अनुमानोंमें जो आत्मा और अनात्मा पक्षरूपसे कहे गये हैं, क्या वे लोकप्रसिद्ध आत्मा और अनात्मा हैं, या प्रभाकर आदि द्वारा माने गये आत्मा और अनात्मा हैं या वेदान्तियों द्वारा माने गये आत्मा और अनात्मा हैं? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि उसके माननेसे प्रथम अनुमानमें और द्वितीय अनुमानमें सिद्धसाधन होगा और तृतीय अनुमानमें अनुभवविरोध होगा, कारण कि लोकमें यह सिद्ध है कि देहादिचैतन्यान्तका समुदाय आत्मा है और पाषण (पत्थर) आदि अनात्मा हैं और उनके तादात्म्याध्यास और उनकी एकता वेदान्ती वस्तुतः नहीं मानता है, और उनका

तयोर्नियतो विरोधोऽनुभूयते। न द्वितीयः, प्राभाकरादयो हि प्रमातृत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्याश्रयं जडमात्मानमाहुः, इन्द्रियदेहाद्यखिलप्रपञ्चमनात्मानम्। तत्र वेदान्तिमते प्रमातृत्वाद्याश्रयोऽहङ्कारो जाड्यं च तत्कारणमज्ञानमित्युभयमप्यनात्मन्येवाऽन्तर्भवति। तथा चाऽनात्मन एककोटेरध्यासतादात्म्यविरोधानङ्गीकारात् पूर्वोक्तमेव दोषद्वयं स्यात्। न तृतीयः, वेदान्तिनो हि सर्वोपप्लवरहितं विज्ञानघनमात्मानमाहुस्तद्व्यतिरिक्तं च सर्वमनात्मानम्। तत्र किमेकस्मिन् प्रत्ययद्वयगोचरत्वं हेतुत्वेन विवक्षितम् उताऽऽत्मन्यस्मत्प्रत्ययगोचरत्वम् अनात्मनि चेतरदिति। आद्ये स्वरूपासिद्धिः, द्वितीये भागासिद्धिः।

परस्पर विरोध भी नियमसे नहीं भासता है। द्वितीय पक्ष भी अर्थात् प्रभाकर आदि द्वारा माने गये आत्मा और अनात्मा भी पक्ष नहीं हो सकते हैं, क्योंकि प्रभाकर आदि आत्माको कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मोंका आश्रय तथा जड़ मानते हैं और इन्द्रिय, देह आदि सम्पूर्ण प्रपञ्चको अनात्मा मानते हैं। इस परिस्थितिमें वेदान्तीके मतके अनुसार प्रमातृत्व आदि धर्मोंका आश्रय अहङ्कार और उसका कारण जड़ अज्ञान ये दोनों अनात्म पदार्थोंमें ही अन्तर्भूत होते हैं, इसलिए अनात्मरूप एक कोटिमें तादात्म्याध्यास और विरोधिताका स्वीकार न होनेसे पूर्वोक्त ही दोष अर्थात् सिद्धसाधन और अनुभवविरोध इस द्वितीय कल्पमें भी आते हैं। तृतीय पक्ष अर्थात् वेदान्ती द्वारा स्वीकृत आत्मा और अनात्मा पक्ष हैं, यह पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्ती लोग सब उपाधियोंसे रहित विज्ञानरूप पदार्थको ही आत्मा मानते हैं और उससे भिन्न सम्पूर्ण पदार्थोंको अनात्मा मानते हैं, अब इसमें यह पूछा जाता है कि क्या एक वस्तुमें रहनेवाली युष्मत्प्रत्ययविषयता और अस्मत्प्रत्ययविषयता हेतु है? अथवा भिन्न वस्तुमें रहनेवाली अर्थात् आत्मामें अस्मत्प्रत्ययविषयता और अनात्मामें युष्मत्प्रत्ययविषयता हेतु है? प्रथम पक्ष मानना तो युक्त नहीं है, क्योंकि प्रथम पक्षका आश्रयण करनेसे स्वरूपासिद्धि दोष होगा *। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस पक्षका अवलम्बन करनेसे † भागासिद्धि

* पक्षमें हेतु नहीं रहेगा अर्थात् एक वस्तुमें युष्मत्प्रत्यय और अस्मत्प्रत्ययकी विषयता नहीं रह सकती है, अतः विरुद्धस्वभावका साधन नहीं हो सकता है, यह भाव है।

† पक्षके एक देशमें हेतुका न रहना भागासिद्धि है।

देहेन्द्रियान्तःकरणप्राणादिष्वनात्मसु युष्मत्प्रत्ययाभावात्। व्यवहारदृष्ट्या तदभावेऽपि शास्त्रदृष्ट्या 'चिदवभास्यो युष्मदर्थः' इत्येतल्लक्षणानुसारेणाऽस्त्येव तत्र युष्मत्प्रत्यय इति चेद्, एवमपि स्वप्रकाशे चिदात्मनि वेदान्तिनामस्मत्प्रत्ययाभावात् स दोषस्तदवस्थः। तस्मात् नाऽनुमानसिद्धिरिति।

अत्रोच्यते—वेदान्तिनं प्रत्यस्त्येवाऽनुमानसिद्धिः। न चाऽऽत्मनि भागासिद्धिः; स्वप्रकाशस्याऽप्यहङ्कारे स्फुटतरव्यवहारयोग्यत्वेनाऽस्मत्प्रत्ययगोचरत्वस्योपचरितुं शक्यत्वात्। न चैवं मन्तव्यं देहद्वयसाक्षिणोश्चैतन्ययोरन्योन्यं युष्मदस्मदर्थत्वेऽपि विरोधाभावादनैकान्तिक इति; चैतन्यस्य चिदवभास्यत्वलक्षणलक्षितयुष्मदर्थत्वाभावात्। तादृश एव चाऽत्राऽभिप्रेतो न तु लौकिक-

---

दोष होगा। कारण कि देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि अनात्म पदार्थोंमें युष्मत्प्रत्ययकी विषयता नहीं है। यदि शङ्का हो कि यद्यपि व्यवहारदृष्टिसे अन्तःकरण आदि अनात्माओंमें युष्मत्प्रत्ययकी विषयता नहीं है, तथापि शास्त्रदृष्टिके अनुसार अर्थात् 'चिदवभास्यो युष्मदर्थः' इस लक्षणके अनुसार तो अन्तःकरण आदिमें युष्मत्प्रत्ययकी विषयता है ही, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर भी स्वप्रकाश चिदात्मामें वेदान्ती लोग अस्मत्प्रत्ययकी विषयताका अङ्गीकार नहीं करते हैं, इसलिए भागासिद्धि और स्वरूपासिद्धि तदवस्थ ही हैं, अतः उक्त अनुमानकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

उक्त शङ्काका समाधान करते हैं—वेदान्तीके प्रति तथोक्त अनुमानकी सिद्धि हो सकती है। यदि शङ्का हो कि आत्मामें भागासिद्धि पूर्वमें दी गई है, तो वेदान्तीके प्रति उक्त अनुमान कैसे हो सकता है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्माके स्वप्रकाश होनेपर भी अहङ्कारके रहते ही वह स्पष्ट व्यवहारका योग्य होता है, अतः अस्मत्प्रत्ययकी विषयता उसमें गौणरूपसे मानी जाती है। यदि शङ्का हो कि दोनों शरीरोंके अर्थात् देवदत्त और उसके प्रतिद्वन्दीके शरीरोंके साक्षीरूप चैतन्यमें परस्पर युष्मदर्थ और अस्मदर्थका (अर्थात् तू और मैं इस प्रकारका) व्यवहार होनेसे युष्मदर्थ और अस्मदर्थका विरोध न होनेके कारण व्यभिचार होगा? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि चैतन्य चिदवभास्यत्वरूप लक्षणसे लक्षित युष्मदर्थ नहीं हो सकता, अतः प्रकृतमें वही चिदवभास्यत्वरूप—चित्‌से प्रकाशित होनेवाला—

युष्मदर्थः । तथाऽप्येतेनाऽनुमानेन प्रत्ययद्वारा विरोधसिद्धिर्न तु स्वरूपेणेति चेत् तर्ह्येवमस्तु—

आत्मानात्मानौ विरुद्धस्वभावौ, विषयिविषयत्वात्, नेत्ररूपवदिति । ननु चिद्रूपस्याऽऽत्मनो जड़रूपमनात्मानं प्रति साधकत्वेनाऽऽनुकूल्यमनुभूयते; अतो वध्यघातकभावलक्षणस्य सहावस्थानसामर्थ्याभावलक्षणस्य वा विरोधस्य च प्रातिकूल्यस्य प्रसाधनेऽनुभवविरोधः तथा दृष्टान्तश्च साध्यविकल इति चेद्, मैवम्; भावाभाववत् परस्परात्मतासामर्थ्याभावलक्षणस्य विरोधस्येह विवक्षितत्वात् । कथं तर्हि मध्याऽनुमाने तमःप्रकाशयोर्दृष्टान्तत्वम्, तयोः सहावस्थानसामर्थ्याभावलक्षणविरोधस्य प्रसिद्धत्वादिति चेद्, मैवम्; मन्दप्रदीपे वेश्मनि तमसो दीपेन सहावस्थानात् । अन्यथा स्फीतालोकप्रदेश-

---

युष्मदर्थ विवक्षित है, अतः उक्त दोष नहीं है । अब पुनः शङ्का करते हैं कि तथोक्त अनुमानसे यही सिद्ध होता है कि आत्मा और अनात्माका प्रतीतिसे ही विरोध है, वस्तुतः अर्थात् स्वरूपतः विरोध नहीं है ? तो इसपर कहते हैं कि यही अनुमान हो—

आत्मा और अनात्मा विरुद्धस्वभाववाले हैं, क्रमशः विषयी और विषय रूप होनेसे, नेत्र और रूपके समान । यदि शङ्का हो कि चैतन्यरूप जो आत्मा है, वह जड़रूप अनात्माका साधक है, अतः उस आत्मामें अनात्माके प्रति अनुकूलता ही अनुभूत होती है, अतः उनके नाश्यनाशकरूप अथवा एक साथ अवस्थितिमें असामर्थ्यरूप विरोध या प्रतिकूलताका साधन किया जाय, तो अनुभवविरोध होगा और 'नेत्र और रूपके समान' इस प्रकार जो दृष्टान्त दिया गया है, वह साध्यशून्य भी होगा ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो आपने दो प्रकारके विरोध ऊपर बतलाये हैं, उनमें से एकका भी साधन नहीं किया जाता है, किन्तु भावपदार्थ और अभावपदार्थके समान परस्पर तादात्म्यसामर्थ्यका जो अभावात्मक विरोध है, वही प्रकृतमें विवक्षित है । अब यदि सहावस्थान होनेसे विरोध नहीं किया जाता, तो पूर्वोक्त द्वितीय अनुमानमें अन्धकार और प्रकाशका दृष्टान्त कैसे सङ्गत होगा, क्योंकि इन दोनोंमें तो एक साथ न रहना रूप ही विरोध प्रसिद्ध है, तो इस प्रकारकी शङ्का भी नहीं जँचती, क्योंकि टिमटिमाते हुए दीपवाले घरमें अन्धकारका भी दीपकप्रकाशके

वदत्राऽपि स्पष्टरूपदर्शनप्रसङ्गात्। तमःप्रकाशशब्दाभ्यां तदेकदेशभूतौ छायातपावुपलक्ष्येते इति चेत्, तथाऽपि छायायामेकविधायां तारतम्येनोपलभ्यमानमौष्ण्यं स्वधर्मिण आतपस्याऽपि अवश्यमवस्थानं सूचयतीति सहावस्थानं दुर्वारम्।

एवमेव तमःप्रकाशशब्दाभ्यां लक्षितलक्षणया छायातपस्थयोः शैत्यौष्ण्ययोः स्वीकारेऽपि सहावस्थानं सुसंपादम्। तस्मात् जातिव्यक्त्योर्यथा तादात्म्यसामर्थ्यं नैवं तमःप्रकाशयोरित्ययमेव तयोर्विरोधः ॥ ३ ॥

ननु तमःप्रकाशदृष्टान्ते भावाभावरूपत्वमुपाधिः। आलोकाभावस्तम इति तार्किका रूपदर्शनाभावस्तम इति प्राभाकरा इति चेद्; मैवम्; उप-

---

साथ रहना देखा गया है। यदि ऐसा न मानो, तो जैसे अधिक तेजके प्रकाशमें स्पष्ट रूपदर्शन होता है, उसी भाति मन्द प्रकाशमें भी स्पष्ट रूपदर्शन होना चाहिए। यद्यपि तमपदसे अन्धकारसामान्य नहीं लेते, किन्तु उस अन्धकारका ही एक अवयव ( विशेषरूप ) छाया लेते हैं एवं प्रकाशशब्दसे भी प्रकाशका एकदेश आतप ( धूप ) ही लेते हैं, तब इनका सह अवस्थान (साथ रहना) नहीं होता, तो पूर्वोक्त विरोध बना ही है, ऐसा कह सकते हैं, तथापि एक प्रकारकी छायामें तारतम्यसे ( कमी बेशीसे ) अनुभवमें आनेवाली गरमी अपने धर्मी आतपका भी अवश्य रहना सूचित करती ही है। धर्मीके बिना धर्मका रहना असम्भव है, अतः यदि वहां धर्मकी उपलब्धि है, तो धर्मी अवश्य है, अतः सहावस्थान दुर्वार है।

इसी प्रकार 'तम और प्रकाश शब्दोंसे लक्षितलक्षणा द्वारा छाया और आतपके स्थानमें अनुभवमें आनेवाली ठंढक और गरमी लेते हैं' ऐसा यदि स्वीकार किया जाय, तो भी सहावस्थान बन सकता है [क्योंकि ऐसे स्थानपर सर्दी और गरमीका भी तारतम्यसे एक साथ रहना होता ही है]। इन सबसे यही निर्णय होता है कि जिस प्रकार जाति और व्यक्तिका तादात्म्य (अभेद) है, उस प्रकार प्रकृत अन्धकार तथा प्रकाशका भी तादात्म्य न होना ही विरोध है ॥३॥

यदि शङ्का हो कि तमःप्रकाश दृष्टान्तमें भावाऽभावत्वरूप उपाधि है। क्योंकि प्रकाशका अभाव अन्धकार है, यह नैयायिक मानते हैं और प्राभाकर कहते हैं कि रूपदर्शनका अभाव अन्धकार है, इसलिए सोपाधिक दृष्टान्त होनेसे अनुमान नहीं बन सकता, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो वस्तु उपचय ( वृद्धि )

चयापचयाद्यवस्थाभेदवत्त्वेनोपलक्ष्यमाणस्याऽभावत्वायोगात्। नीलरूपत्वेन द्रव्यत्वात्। ननु भावत्वपक्षे बहलालोकवति देशे निमीलितनयनस्य कथं तमःप्रतीतिः, बहलालोकेन निवृत्त्यङ्गीकारात्। सहावस्थानं तु मन्दालोकेनैव पूर्वमुक्तमिति चेद्; न, गोलकान्तर्वर्तितमसः प्रतीत्युपपत्तेः। न च नेत्रस्याऽन्तर्वर्त्तिवस्तुग्राहकत्वासम्भवः, पिहितकर्णस्याऽन्तरशब्दग्राहकत्वदर्शनात्। न चैवं गोलकान्तरस्थाञ्जनादेरपि निमीलितनयनेन ग्रहणप्रसङ्गः; तमोव्यतिरिक्तरूपिण आलोकसहकृतचक्षुर्ग्राह्यत्वनियमात्।

अथ मतम्—द्रव्यत्वे सति तमस आलोकविनाशितस्याऽऽलोकापगमे झटिति नोत्पत्तिः, कार्यद्रव्याणां द्व्यणुकादिक्रमेणैवाऽऽरम्भादिति, तन्न;

---

और अपचय ( ह्रास ) रूप अवस्थाविशेषोंसे युक्त अनुभवमें आवे, उसको अभाव रूप मानना योग्य नहीं है। और अन्धकारमें नीलरूपवत्ताकी प्रतीति होती है, इसलिए रूपवान् होनेसे वह द्रव्य है। इससे अन्धकार अभावरूप नहीं हो सकता, किन्तु भावरूप ही है। अन्धकारको भावरूप माननेमें यदि शङ्का हो कि अधिक प्रकाशवाले स्थानमें आँख बन्द करनेपर अन्धकारकी प्रतीति कैसे होगी ? क्योंकि उस स्थानमें अधिक प्रकाशने अन्धकारको दूर कर दिया है। अन्धकारका और प्रकाशका साथ-साथ रहना तो मन्द प्रकाशमें ही कहा गया है ? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि आँखोंके गोलकके अन्दर अन्धकार आँख बन्द करनेपर दिखाई देता है। और ऐसा भी नहीं कह सकते हैं कि आँखोंमें अपने भीतरकी वस्तुका ग्रहण करनेकी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि बन्द किये गये कान भी अपने भीतरी ( मन ही मन कहे हुए ) शब्दका ग्रहण करते देखे जाते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियसामान्य होनेसे आँखोंमें भी भीतरी रूप ग्रहण करनेकी शक्ति है। यदि शङ्का हो कि तब तो आँख बन्द करने या खुली रखनेपर आँखोंमें लगाये गये अञ्जन ( काजल ) का भी दर्शन होना चाहिए, परन्तु होता नहीं हैं, तो यह शङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्धकारसे अतिरिक्त रूपवान् वस्तुका आलोकसहकृत आँखसे ही प्रत्यक्ष किया जाता है, ऐसा नियम है।

पुनरपि अन्धकारको भाव माननेमें दोष देते हैं—यदि अन्धकार द्रव्य है तो आलोकसे नष्ट किये हुए अन्धकारकी आलोकके दूर होते ही तुरत उत्पत्ति कैसे होगी ? क्योंकि कायद्रव्योंका आरम्भ तो द्व्यणुकादिक्रमसे ही होता है।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

# बृहदारण्यकवार्तिकसार

## [ भाषानुवादसहित ]

## प्रथम अध्याय

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ※ ॥
श्रीमत्सुरेश्वराचार्यपादाब्जभ्रमरा इमे ।
वार्तिकेक्षुरसं पीत्वा तृप्यन्त्वात्मानुभूतितः ॥ १ ॥

---

विधयेऽखिललोकानां निधये सर्वसंविदाम् ।
मुक्तये ज्ञानिनां नित्यम् नमोऽस्तु त्रिपुरारये ॥१॥
यदविद्यावशं भाति विश्वमुच्चावचं चिरम् ।
तं स्वनाथं जगन्नाथं विश्वनाथमहं भजे ॥२॥
प्रणम्य मातापितरौ भक्त्या च परया गुरून् ।
व्याख्या वार्तिकसारस्य भाषया क्रियते मया ॥३॥

सदाचार-परम्परा एवं उससे अनुमित श्रुति द्वारा यह सकल आस्तिक जनोंका अभिमत सिद्धान्त है कि ग्रन्थके आरम्भमें मङ्गल करना परम आवश्यक है, अन्यथा बीचमें विघ्न उपस्थित होनेसे समाप्तिमें सन्देह होता है ।

शङ्का—नास्तिक-ग्रन्थोंमें मङ्गलाचरणके बिना भी समाप्ति देखी जाती है तथा कतिपय आस्तिक-ग्रन्थोंमें मङ्गलाचरण रहनेपर भी समाप्ति नहीं देखी जाती, इसलिए समाप्ति न होनेपर बीचमें अवश्य विघ्न हुआ होगा, यह ज्ञान अनिवार्य होता है । अतः मङ्गल विघ्नविनाश तथा विघ्नविनाश द्वारा समाप्तिका कारण ही

नहीं हो सकता। कारण वही कहा जाता है, जिसके अभावमें कार्य न हो तथा अस्तित्वमें कार्य अवश्य हो। प्रकृतमें मङ्गल रहनेपर भी समाप्ति न होने और न रहनेपर भी समाप्ति होनेसे अन्वय-व्यतिरेक व्यभिचार है। अतः मङ्गलमें विघ्नध्वंस तथा समाप्तिकारणताका अभाव ही निश्चित होता है। अतः मङ्गलाचरण व्यर्थ है।

समाधान—जहांपर मङ्गल न रहनेपर भी समाप्ति दृष्टिगोचर होती है, वहींपर जन्मान्तरीय मङ्गलकी कल्पना की जाती है, क्योंकि जन्मान्तरीय शुभ और अशुभ कर्मोंका जन्मान्तरमें भी फल होता है, यह निर्विवाद है। और जहांपर मङ्गल रहनेपर भी समाप्ति नहीं है, वहां विघ्नबाहुल्य अथवा विघ्नप्राबल्यकी कल्पना की जाती है। अग्निसे काष्ठ भस्म होता है यह निर्विवाद है, किन्तु स्वल्प अग्निसे आर्द्र तथा बृहत् काष्ठके भस्म न होनेपर भी उनके कार्य-कारणभावमें कोई बाधा नहीं आती। अन्यथा दाहके लिए अग्निके आनयनमें किसीकी प्रवृत्ति ही न होगी।

शङ्का—यदि विघ्नाभावपूर्वक ग्रन्थसमाप्तिकी कामनासे मङ्गलाचरण आवश्यक है, तो मङ्गल भले ही किया जाय। पर ग्रन्थमें उसे लिखनेकी क्या आवश्यकता है?

समाधान—शिष्यशिक्षाके लिए उसे ग्रन्थमें लिखना आवश्यक है। अन्यथा ग्रन्थमें मङ्गलाचरण न देखकर शिष्यगण भी मङ्गलाचरणसे विरत हो जायँगे, यह पहला प्रयोजन हुआ, दूसरा प्रयोजन है—ग्रन्थका प्रचुरमात्रामें प्रचार और तीसरा प्रयोजन है—अध्येता जनोंके श्रमकी सफलता, चिरजीवित्व आदि। इसमें प्रमाण है—'मङ्गलादीनि शास्त्राणि प्रथन्ते' इत्यादि महाभाष्य।

अतः वार्तिकसारकार इष्टदेवतानमस्काररूप मङ्गल करते हैं—

वागीश बृहस्पति और ब्रह्माको कहते हैं। बृहस्पति या ब्रह्मा आदि देवगण सब कार्योंके आरम्भमें जिसको नमस्कार कर सफलमनोरथ हुए हैं, मैं भी अपने कार्यकी सिद्धिके लिए ग्रन्थके आरम्भमें उन गणेशजीको नमस्कार करता हूँ *।

बृहदारण्यकभाष्यवार्तिककार श्रीमत्सुरेश्वराचार्यके चरणकमलानुरागी शम, दम, आदि साधनसम्पन्न सज्जन इक्षुरसोपम वार्त्तिकके अर्थका आस्वाद कर आत्मानुभवरूप मोक्षसे तृप्त हों॥ १॥

[ तात्पर्य यह है कि यद्यपि वार्तिककारने तत्त्वज्ञानपिपासुओंके लिए वार्त्तिक ग्रन्थका निर्माण किया है, किन्तु उसके इक्षुदण्डके समान कठिन होनेसे साधारण-बुद्धिवाले जिज्ञासु जनोंको वार्त्तिकका रसास्वाद नहीं हो सकता। जैसे दयामय परमात्माने मधुर रसके प्रेमियोंके लिए इक्षुदण्डकी सृष्टि की, किन्तु साधनके बिना

*निजपदभक्तजनानामजलिखितशिरोलिपिं प्रमार्ष्टि ।*
*हंसपदं दत्त्वा यः शंसतु तं राममादराद्वाणी * ॥ १ ॥*

असमर्थ बालक और वृद्ध उसके रसका स्वाद नहीं ले सकते । उनके लिए इक्षु (ईख) को पेरनेके लिए कोल्हू आदि यन्त्रकी अत्यन्त आवश्यकता होती है । उसी प्रकार वार्त्तिक गम्भीराशय होनेसे अति कठिन है। स्फुट व्याख्याके बिना साधारण विद्वानोंको हृदयङ्गम नहीं हो सकता, अतः वे इस रससे वञ्चित रह जाते किन्तु अब इस वार्तिकसार द्वारा चिर-अभिलषित मधुररसामृत पान कर सदाके लिए वे परितृप्त हों । अपूर्वग्रन्थरचनाकी अपेक्षा उसी वार्त्तिकका संक्षिप्त एवं सरल वार्तिकसार नामका ग्रन्थ बनाना ही श्रेयस्कर है । मनुष्योंमें शास्त्रके अर्थको समझनेकी शक्ति उत्तरोत्तर परिक्षीण हो रही है । अतः समयानुसार सरल व्याख्याकी ही आवश्यकता है। जिस तरह शीघ्रगति-शक्तिके ह्राससे रेलगाड़ीकी आवश्यकता हुई, उसी तरह अब भाषा व्याख्याकी आवश्यकता हो गई है । अतः मेरा भी प्रयत्न सार्थक है । अनधिकारियोंसे रसकी रक्षा करनेके लिए ईखको जिस तरह ईश्वरने कठिन बनाया, उसी तरह वार्त्तिककारने भी अमृतकी रक्षा करनेके लिए कठिन पद्यमय वार्त्तिक बनाया । कारण कण्टकावरोध या छरदिवालीके बिना सुगन्ध और सरस पुष्प-फलमय वाटिकाकी रक्षा नहीं हो सकती ] ।

जो परमहंसपदको अर्थात् जीवन-मुक्तिको प्रदानकर अपने भक्तोंके ललाटकी अमिट अज्ञतासूचक ब्रह्म-दुर्लिपि मिटाते हैं, मेरी वाणी उन भक्तवत्सल श्रीरामजीका सदा गुणानुवाद किया करे ॥१॥

[ भावार्थ यह है कि जो विद्वान् हैं, वे व्याख्यान द्वारा वार्त्तिकसारका मनन कर मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, इससे उनका उद्धार तो हो सकता है, किन्तु जो जड़बुद्धि हैं, जिनके ललाटमें जड़तासूचक ब्रह्माकी लिपि मौजूद है, उनके उद्धारका क्या उपाय है ? यदि कुछ नहीं, तो परमात्माकी सर्वशक्ति तथा परम दयालुता भी सीमाबद्ध हो जायगी । वास्तवमें वे दोनों निस्सीम हैं, इसलिए उनके लिए उपायान्तरकी सूचना मङ्गल द्वारा प्रगट करते हैं। रामनामोच्चारण भक्ति-प्रासादका प्रथम सोपान है । यद्यपि भक्तिस्वरूपमें विद्वानोंका विविध मतभेद है, जिसका विचार स्वतन्त्ररूपसे अलग हो सकता है, तथापि यहांपर केवल सिद्धान्तरूपसे

* पहले वार्तिकसारकी टीकाका भी भाषानुवाद प्रकाशित करनेका विचार था, परन्तु ग्रन्थकी विपुलताकी ओर ध्यान देते हुए वह विचार त्याग देना पड़ा । प्रकृतमें अत्यन्त उपयुक्त केवल टीकाके मङ्गल श्लोकोंका अनुवाद दिया जाता है । सम्पादक ।

संक्षेपमें तैलधारावदविच्छिन्न भगवत्स्वरूपस्मरणात्मक ज्ञान भक्ति है, यह मानकर विचार करते हैं। जो प्रज्ञारूप साधनसे रहित हैं, उनके लिए रामनामोच्चारण ही परम्परासे मुक्तिसाधन है। रामनामोच्चारण किस तरह तत्त्वज्ञानोत्पादक होता है, यह विषय भी विस्तृत होनेसे अलग ही विचार करने योग्य है, परन्तु फलतः पुराणोंका परिशीलन करनेवाले महानुभावोंसे यह बात छिपी नहीं है कि अध्यात्मशास्त्रशिरोभूषण जटिल विषयोंका प्रतिपादन करनेवाले योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थोंके रचयिता जीवन्मुक्त महर्षि बाल्मीकि मुनिकी प्रथम अवस्था क्या थी, और किन साधनोंसे चरमावस्था प्राप्त हुई ? आश्चर्य है कि उनको राम और मरा शब्दके स्वरूपका विवेक भी न था, फिर भी मरा शब्द ही सतत उच्चारण करनेसे रामशब्द हो गया। इसीसे उनको परमहंसपदकी प्राप्ति हुई; ऐसे कितने ही उदाहरण शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। जो पशु, पक्षी आदि शास्त्ररूप साधनोंके अधिकारी नहीं हैं, उनको भी रामनामसे ही ज्ञान तथा सद्गतिकी प्राप्ति हुई है। ज्ञानके बिना भक्तिसे भी मोक्ष मिल जाता है, क्योंकि 'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' इत्यादि गीतावचनोंसे मुक्तिके दो साधन सिद्ध हैं—ज्ञान और योग—भक्ति। अतः अज्ञानियोंको भक्ति द्वारा ही मोक्ष होता है इत्यादि कहना ठीक नहीं है, कारण कि 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुतियोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि आत्मज्ञानके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। यदि अन्य उपायसे मुक्ति मानी जाय तो स्वर्गविशेषरूप ही वह होगी। जैसे यागादिकर्मजन्य होनेसे स्वर्गादि अनित्य और सातिशय हैं, वैसे ही भक्तिरूप उपासनाक्रियाजन्य होनेसे मुक्ति भी अनित्य और सातिशय होगी, तो स्वर्गविशेष ही मोक्ष हो जायगा। परन्तु शास्त्रोंमें मोक्षका स्वरूप नित्य और निरतिशय बतलाया गया है। यदि नामोच्चारण द्वारा भक्तिसे ही मोक्ष हो सकता, तो वाल्मीकि तत्त्वज्ञानी कैसे होते और मोक्षार्थियोंके लिए अध्यात्मशास्त्रोंका प्रणयन तथा उपदेश क्यों करते ? अतः रामनामोच्चारणसे अनेक जन्मार्जित विविध दुरित नष्ट हो जाते हैं। ये ही दुरित ज्ञानोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक हैं। चित्तके शुद्ध होनेपर स्वल्पोपदेशसे भी तत्त्वज्ञानोत्पत्ति हो जाती है। लिखा है कि 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः'। तुलसीदासजीने भी कहा है—

'राम-नाम बिन सुनहु खगेशा। मिटहिं न जीवन केर कलेशा॥'

गीतामें भी पृथक् साधननिरासके लिए लिखा है—

*यतो जगत्समुद्भूतिसम्भूतिपरिभूतयः ।*
*तं वन्दे राममात्मानं चिदानन्दघनं गुरुम् ॥ २ ॥*

'सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥' इत्यादि ।

अब विवक्षित रामशब्दार्थका परिचय करानेके लिए कहते हैं—**यतो जगदित्यादि ।**

जिससे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार होता है । उसी चिदानन्दघन, गुरुस्वरूप अपनी आत्मासे अभिन्न रामजीकी वन्दना करता हूँ ॥२॥

[ तात्पर्य यह है कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञास्व, तद् ब्रह्म' इत्यादि श्रुति और श्रुतिमूलक 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्र द्वारा तटस्थ लक्षणसे लक्षित तथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों द्वारा स्वरूपलक्षणसे लक्षित जो समस्तोपाध्यनवच्छिन्न अपेत-ब्रह्मक्षत्रादिभेद, चिदानन्दैकरस उदासीन अकर्तृभोक्तृ आत्मतत्त्व ही रामशब्दार्थ है, उसीके श्रवण, मनन और उपासना द्वारा साक्षात्कार करनेसे अविद्याविनाश-पूर्वक स्वतःसिद्ध आत्मस्वरूपाविर्भावरूप नित्यसुखात्मरूप मोक्ष प्राप्त होता है । यदि शङ्का हो कि सगुण श्रीरामचन्द्रजीके भजनसे मुक्ति नहीं हो सकती क्योंकि निर्गुणकी उपासनासे ही मुक्ति होती है, यह सुना जाता है, तो यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि वाल्मीकि, तुलसीदास, सूरदास आदि महानुभावों ने मुक्तिके लिए अयोध्याधिपति श्रीरामचन्द्रजीका गुणगान, भजन स्वयं किया तथा मुमुक्षु जनोंको वैसा ही उपदेश दिया है । इसलिए अधिकारीके भेदसे दोनों उपासनाएँ सार्थक हैं, जिनका चित्त जन्मान्तरीय सगुणोपासनासे परिशुद्ध—संस्कृत है, उनके लिए सगुणोपासनाकी आवश्यकता नहीं है । जैसे सनत्कुमार, वामदेव प्रभृति जिनका चित्त रजस्तमोगुणात्मक होनेसे अशुद्ध है, उनके चित्तको परिशुद्ध करानेके लिए निष्काम नित्य-नैमित्तिककर्मानुष्ठान तथा उनमें असमर्थ जिज्ञासुओंके लिए रामनामोच्चारण ही परम साधन है । यद्यपि साधनावस्थामें उपास्योपासकरूपसे भेदज्ञान आवश्यक है । फिर भी ज्यों ज्यों श्रद्धा, भक्ति पुरःसर नामोच्चारण आदि उपासना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, त्यों त्यों उपास्योपासकके परस्पर अभेदकी

भावना भी दृढ़तर होती जाती है, जब चरमावस्थामें 'तत्त्वमसि' 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता' इत्यादि और 'अहं ब्रह्मास्मि' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'इत्यादि-श्रुतिसे बोधित अद्वैतात्मानुभव दृढ़तर होता है, उस अवस्थाके तात्पर्यसे 'आत्मानम्' यह विशेषण कहा है। यदि यह कहें कि इस दशामें भी वृत्तिरूपसे अविद्या विद्यमान है, तो फिर अद्वैत आत्माका अनुभव कैसे ? और वृत्तिकी निर्गम-दशामें तो प्रकाशकके संबन्धके अभावसे प्रकाश ही नहीं हो सकता, अप्रकाशित जीव और ब्रह्मका अभेद पुरुषार्थ नहीं हो सकता है तो इसका, उत्तर देते हैं—सच्चिदानन्दघनम्। तात्पर्य यह है कि आत्माके चैतन्यस्वरूप होनेसे वह स्वयंप्रकाश है; अतः उसके प्रकाशके लिए प्रकाशान्तरकी आवश्यकता ही नहीं है, इस विषयका अधिक विस्तार आत्मस्वरूपके निरूपणके समय विशेषरूपसे करेंगे। यदि फिर सन्देह हो कि ज्ञानके प्रकाशात्मक होनेपर भी वह सुखात्मक तो है नहीं, वैसे ही दुःख-निवृत्तिस्वरूप भी वह नहीं है, तब वह पुरुषार्थ कैसे हो सकता है ? क्योंकि संसारमें सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति—दो ही पुरुषों द्वारा अर्थ्यमान पुरुषार्थ है। 'सुखं मे स्यात् दुःखं माभूत्'(मुझे सुख हो और दुःख न हो।) इसी प्रकारकी इच्छा सारे संसारी-जीवोंमें विद्यमान है, इसीके लिए तत्-तत् सुखके साधन विषयविशेषमें इच्छा तथा प्रवृत्ति होती है, अतः इस सन्देहके निरासार्थ 'आनन्द' यह विशेषण कहा है अर्थात् यह प्रकाश आनन्दस्वरूप है। 'सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःस्यानन्तरं सुखम्' इस लौकिक वाक्यके अनुसार लौकिक सुखके अनन्तर जैसे दुःख होता है वैसे ही मोक्षसुखके उत्तर भी दुःख हो सकता है, अतः 'घन' यह भी विशेषण दिया है। विषयसुखके उपभोगावस्थामें विषयाधीन होनेसे स्वल्प दुःखसे मिश्रित ही वह रहता है, तथा विषयकी अनित्यता होनेसे तदधीन सुख भी विनाशी ही होता है एवं इन्द्रियादि साधनाधीन होनेसे इन्द्रियशक्तिवैकल्यसे भी पूर्णसुखका विकास नहीं होता है, प्रकृतमें आनन्दके नित्यात्मस्वरूप होनेसे दुःखके गन्धका भी संभव नहीं है। सैन्धवघनकी तरह मोक्ष सर्वात्मना आनन्द ही है। 'गुरुम्' कहनेका तात्पर्य यह है कि लौकिक ज्ञान तथा आनन्द ये दोनों अचेतनस्वरूप ही हैं। यदि इस आनन्दका स्वरूप आत्मा है, तो वह भी अचेतन हुआ, और अद्वैत होनेसे भासकान्तर संबन्ध है ही नहीं, अभासमान आनन्द पुरुषार्थ नहीं है, अतः 'गुरुम्—शासितारम्' 'एतस्य शासने सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः', 'पश्य-

येनोद्धृतो वार्तिकाब्धेः सारो विबुधतुष्टिदः ।
अविद्यातज्जतापघ्नं विद्यारण्यगुरुं भजे ॥ ३ ॥

त्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यादि श्रुतिसे आत्माके साधननिरपेक्ष स्वयंप्रकाशानन्द-स्वरूप होनेसे उसमें किसी प्रकारके सन्देहका सम्भव नहीं है ।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन ।
गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

इत्यादि स्मृति-वाक्योंसे तथा 'नमो गुरुभ्यः' इस प्रकार पृथक् साक्षात् गुरुके प्रति नमस्कारबोधक भाष्यकारके प्रयोगसे परम्परया गुरुके नमस्कारके सिद्ध होनेपर भी आदरातिशयके सूचनके लिए पृथक् नमस्कार करना अत्यावश्यक है । इस कारणसे साक्षात् गुरु श्रीविद्यारण्यस्वामीको नमस्कार करनेके लिए **'येनोद्धृतो'** इत्यादि श्लोक कहते हैं । विबुधशब्द श्लिष्ट है अर्थात् वह विद्वान् तथा देवता दोनोंका वाचक है । तुष्टिशब्दके तृप्ति एवं सन्तोष दो अर्थ हैं । 'वार्तिकाब्धि' यह उपमित समास है—वार्तिकम् अब्धिरिव इति वार्तिकाब्धिः । अविद्या और तज्जन्य दुःखको निवृत्त करनेवाले पूर्व पद्यमें कहे हुए परमात्मरूप गुरुका सादृश्य साक्षात् विद्यागुरुमें बोधन करनेके लिए 'येनोद्धृतो' यह वाक्य है ] ।

जैसे परमगुरु परमात्माने समुद्रको मथकर देवताओंको सदा तृप्त करनेवाले समुद्रके सारभूत अमृतका उद्धार किया है वैसे ही जिन साक्षात् गुरुजीने वार्तिकरूपी समुद्रको मथकर विद्वानोंके परम सन्तोषप्रद वार्तिकसाररूप अमृतका उद्धार किया है, उन महानुभाव परमदयालु परमात्मस्वरूप पूज्यपाद श्रीविद्यारण्य-स्वामीका मैं भजन करता हूँ ॥ ३ ॥

तात्पर्य यह है कि 'न वा अरे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति' इत्यादि श्रुतिसे तथा 'उमा कहै यह जग कै रीति । स्वारथ लाग करै सब प्रीति ॥' इस प्रकारके महात्मा श्रीतुलसीदासजीके वचनसे तथा सकल लोकोंके अनुभवसे उपकार्योपकारकभावके बिना किसीकी किसीमें प्रीति नहीं होती, यह निर्विवाद सिद्ध विषय है । यह दूसरी बात है कि कोई पहिलेके ही उपकारको लेकर प्रीति करता है, और कोई भविष्य उपकारको

मनमें रखकर प्रीति करता है। द्वितीयकी अपेक्षा पहला श्रेष्ठ है। शास्त्रमें सकामोपासनासे निष्कामोपासना श्रेष्ठ मानी गई है। उपकार भी दो प्रकारका होता है—एक प्रत्युपकारसे साक्षेप और दूसरा उससे निरपेक्ष। पहला पशु, पक्षी आदि सकललोकसाधारण है और दूसरा परमेश्वर अथवा बड़े-बड़े ईश्वरभावप्राप्त महात्माओंमें ही होता है; इसीका नाम परमदयालुता भी है। यह सात्त्विक-लोगोंमें ही होती है; रजस्तमोदूषित चित्तवालोंमें नहीं होती। प्रथमचरणसे सुख-प्रदान द्वारा उपकारकबुद्धिसे प्रेमातिशय सूचित किया गया है, और द्वितीयचरणसे दुःखनिवृत्ति द्वारा। यह कह चुके हैं कि संसारमें मुख्य दो ही प्रयोजन हैं, तीसरा नहीं। उनमें पहला सुखप्राप्ति और दूसरा दुःखनिवृत्ति है। दोनोंका मूल कारण साक्षात् या परम्परया परमात्मोपासना ही है।

यद्यपि साक्षात् प्रतिकूलवेदनीय होनेसे केवल दुःख ही जिहासित है और उसकी निवृत्ति द्वारा गुरुमें परमोपकारकत्वका लाभ हो ही जाता है, अतः अनु-पयुक्त अविद्यानिवर्त्तकत्वका कथन निष्प्रयोजन है, तथापि कारणकी निवृत्तिके बिना कार्यकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि मूलके रहनेपर कालान्तरमें फिर कार्योत्पत्ति हो सकती है। दृष्ट उपायकी अपेक्षा आत्मज्ञानरूप उपायमें यही तो विशेष है। इसके बिना तो दोनों तुल्य हो जाते हैं, फिर सुकर दृष्टोपायको छोड़कर गुरुतर अनेकजन्मायाससाध्य आत्मज्ञानरूप उपायमें किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी। एक प्रसिद्ध कहावत है कि—'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' अर्थात् पास ही में यदि मधु मिल जाय, तो मधुके लिए पर्वतमें कौन जायगा? अर्थात् असल बात यह है कि विद्या अविद्याकी ही नाशिका है अविद्या ही के साथ विद्याका साक्षात् विरोध है। दुःखकारणीभूत अविद्याके निवृत्त होनेसे तत्कार्य दुःखकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है, अतः समूल दुःखनिवृत्तिके सूचनके लिए अविद्या और तज्ज इन दोनोंका निर्देश किया गया है।

पूर्व श्लोकमें परमगुरुकी वन्दना की है इस श्लोकमें साक्षात्गुरुका भजन करता हूँ यह लिखा है। 'भजे' यह 'भज् सेवायाम्' इस धातुका रूप है। 'भजे' इसका अर्थ है सेवा करता हूँ। यद्यपि सेवा कई प्रकारकी होती है तथापि स्थूलरूपसे सेवा तीन प्रकारकी होती है—कायिक, वाचिक और मानसिक। इनके भी अवान्तर अनेक भेद हैं जिनका स्वतन्त्ररूपसे विचार किया जायगा। किन्तु सामान्यरूपसे शरीर, मन तथा वाणीसे प्रतिकूल आचरण न कर सदा अनुकूल आचरण करना ही सेवा

पूर्वाचार्याल्लोकवन्द्यान्नत्वाऽऽनन्दगिरीयतः ।
व्याख्या वार्तिकसारस्य लघु संगृह्य लिख्यते ॥ ४ ॥

है । यह सेवा गुरुके रहने तथा न रहनेपर भी हो सकती है, किन्तु प्रकारान्तरकी सेवा विद्यमानदशामें ही हो सकती है । यहां 'भजे' इस रूप-निर्देशसे सेवामें वर्तमानताकी प्रतीति होती है । अतः गुरुसंमत ही अर्थ इस व्याख्यामें प्रकाशित किया जायगा, तद्विरुद्ध नहीं । जैसे ग्रन्थान्तरकी टीकाएँ मूलकारके अभिप्रायको उलट-पुलट कर स्वाभिप्रेत अर्थकी सृष्टि करती हैं, वैसे यह टीका नहीं करती, इस भावको अभिव्यक्त करनेके लिए 'भजे' पदका उपादान किया है ] ।

भाष्यकारने पहिले पूर्वाचार्योंकी वन्दना की है । इसलिए पूर्वाचार्योंकी भी वन्दना करते हैं—'पूर्वाचार्यान् लोकवन्द्यान्' इत्यादिसे ।

पूज्य पूर्वाचार्योंको नमस्कार कर, आनन्दगिरिकी व्याख्यासे अभिप्रेत अर्थका सङ्ग्रह कर वार्त्तिकसारकी लघु व्याख्या लिखता हूँ ॥४॥

[ यहाँपर यह प्रश्न होता है कि भाष्यकारने तो प्रथम पूर्वाचार्योंका अभिवादन करके पश्चात् साक्षात् गुरुका अभिवादन किया है और वार्तिकसारके व्याख्याकारने ईश्वरवन्दनाके अनन्तर पहिले साक्षात् गुरुकी वन्दना कर पश्चात् पूर्वाचार्योंकी वन्दना की है, ऐसा करनेका क्या अभिप्राय है ? इसका उत्तर देते हैं कि यदि एक कालमें पारम्परिक गुरु और साक्षात् गुरु दोनोंका अभिवादन प्राप्त हो, तो प्रथम किसका अभिवादन करना चाहिए ? ऐसा प्रश्न उठनेपर दोनोंका एक समयमें तो अभिवादन हो नहीं सकता, अतः क्रमकी आवश्यकता है । ऐसी परिस्थितिमें नियत क्रम न होनेसे स्वेच्छासे दोनों प्रकार हो सकते हैं; किन्तु धर्मशास्त्रका वचन तथा शिष्टाचार यह है कि प्रथम साक्षात् गुरुका अभिवादन करना चाहिए, पश्चात् परमगुरुका अभिवादन करना चाहिए । अतएव श्राद्धमें पितृपूजनपूर्वक ही पितामहादिका पूजन होता है । यदि शास्त्रमें क्रम नियत है, तो भाष्यकारने व्युत्क्रम क्यों किया ? भाष्यकारका अभिप्राय यह है कि विधि और निषेध कर्म-परायण मनुष्योंके लिए हैं, ज्ञानियोंके लिए नहीं । इसीलिए भगवान् भाष्यकारने 'अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादिप्रमाणानि शास्त्राणि च' ऐसा अध्यासभाष्यमें कहा है । भाष्यकार ज्ञानी थे, उनके लिए विधि और निषेध नहीं हैं; अतः वे

चाहे जैसा लिखें पर दूसरेका वैसा करना ठीक नहीं है। इसलिए साक्षाद्गुरुनमस्कारपूर्वक ही परम्परागुरुका जो नमस्कार किया है, वह उचित ही है।

स्वकीय व्याख्यानमें दृढ़ विश्वासोत्पत्तिके लिए लिखते हैं—**'आनन्दगिरीयतः'** इत्यादि। भाव यह है कि जबतक प्रमाणोंमें संवाद नहीं होता है, तबतक प्रमेयका निश्चय नहीं होता। कारण कि विषयके निश्चयमें विषयग्राहक प्रमाणके प्रामाण्यका निश्चय कारण है। सम्भव है कि स्वयं वक्ताने कल्पना कर ऐसा लिखा हो। शब्द स्वयम् अदुष्ट होनेपर भी वक्ताके दोषसे दूषित होकर मिथ्या अर्थका भी बोधक होता है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव और उच्चारणदोष वक्ता पुरुषमें अनिवार्य होते हैं, इसीसे वेदको अपौरुषेय माना है, अन्यथा पुरुषदोषोंकी संभावनासे वेद भी अप्रामाणिक हो जायगा, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं कि हम आनन्दगिरिव्याख्यासे सङ्ग्रह कर लिखते हैं। इस तरह प्रमाणसंवाद होनेसे स्वकल्पित सन्देह निवृत्त होता है और प्रामाणिकत्व निश्चय होनेसे जिज्ञासुओंकी श्रद्धापूर्वक प्रकृत ग्रन्थमें प्रवृत्ति होती है। यदि आनन्दगिरिव्याख्यासे ही सङ्ग्रहकर लिखना है, तो उक्त व्याख्यान है ही, फिर इस नवीन ग्रन्थकी आवश्यकता ही क्या है, अतः 'लघु' पद कहा अर्थात् यह ग्रन्थ संक्षिप्त है। लघुका 'लिख्यते'के साथ सम्बन्ध करनेसे लेखमें लघुत्व प्रतीत होता है।

शास्त्रकारोंकी शास्त्ररचनामें दो प्रकारसे प्रवृत्ति होती है—विस्तृतको संक्षिप्त करनेके लिए और संक्षिप्तको विस्तृत करनेके लिए, इसी प्रकारको समास और व्यास भी कहते हैं। योग्यता और समय आदिके अनुसार श्रोता दो प्रकारके होते हैं, एक संक्षेपसे शुश्रूषु होते हैं और दूसरे विस्तारसे शुश्रूषु होते हैं। इसलिए अधिकारीके अनुसार ही शास्त्र होना चाहिए। विस्तारके जिज्ञासुओंके लिए आनन्दगिरिव्याख्या हुई है। किन्तु संक्षिप्तके जिज्ञासुओंके लिए यह लघु व्याख्या की गई है। जिनकी इस व्याख्या तृप्ति न हो, वे विशेषज्ञानके लिए आनन्दगिरिव्याख्या देखें, यह भी प्रयोजन है। अथवा यदि लघुका संबन्ध 'संगृह्य' के साथ करें, तो थोड़ा संग्रह अर्थात् कहीं-कहीं आनन्दगिरिव्याख्याका सङ्ग्रह है; इससे उस व्याख्यासे प्रकृतग्रन्थ गतार्थ है, इस शङ्काका अवसर ही नहीं आता। स्थालीपुलाकन्यायसे संवादद्वारा प्रामाण्य भी समर्थित हो जाता है।]

संक्षिप्त-जिज्ञासुओंके लिए यह ग्रन्थ है सही; किन्तु महिमाशाली महात्माओंसे

**मणयो मणितत्त्वज्ञैः सञ्चितास्तत्र केचन ।**
**बालिशेन समानीताः किं न ग्राह्यास्तदर्थिना ॥ ५ ॥**

प्रणीत ग्रन्थोंके रहते आपके ग्रन्थमें उनकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, क्योंकि आपकी अपेक्षा उक्त महात्माओंमें लोगोंका अधिक विश्वास है, अतः उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थोंमें ही श्रद्धापूर्वक प्रवृत्ति होगी। इसलिए अनुपादेय होनेसे इसकी रचना व्यर्थ है ? इस आशंकाकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं—**'मणयो'** इत्यादि।

मणितत्त्वज्ञोंने—खरे-खोटेकी पहिचान करनेवाले जौहरियोंने—जहांपर मणियोंका सञ्चय कर रक्खा है, वहांपर यदि कोई बालिश अर्थात् मणितत्त्वानभिज्ञ कीमती मणि लेकर जाय, तो ग्रहणेच्छा होनेपर भी क्या जौहरी इसलिए नहीं ग्रहण करेगा कि ले आनेवाला मूर्ख है ? प्रापकके गुण या दोषसे प्राप्य वस्तु हेय या उपादेय नहीं होती। गुणग्राही विद्वज्जन गुणके ग्रहणमें लोलुप होते हैं। वक्ताके गुण और दोषकी अपेक्षा नहीं रखते। इसीलिए कहा है—'ननु वक्तृविशेषनिस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः', 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' इत्यादि। अर्थात् गुणग्राही विद्वान् वक्तृविशेषकी इच्छा न कर केवल विषयगुणका अवश्य ही ग्रहण करते हैं, इस दृढ़ विश्वाससे इस ग्रन्थरचनामें मेरी भी प्रवृत्ति हुई है। आशा है, गुणग्राही सज्जन इसमें अवश्य प्रवृत्त होंगे ॥ ५ ॥

सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित् ।
यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते ॥
सिद्धार्थं ज्ञातसंबन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः संबन्धः सप्रयोजनः ॥

इस भट्टपादकी उक्तिसे तथा सकल शास्त्रकारोंका यह सिद्धान्त है कि मङ्गलाचरणोत्तर सर्वप्रथम अनुबन्धचतुष्टयका निर्देश अवश्य करना चाहिए, इस नियमसे अनुबन्धचतुष्टयका निर्देश कर देना परम आवश्यक है। अधिकारी, प्रयोजन, विषय और संबन्ध ये ही चार अनुबन्ध हैं। इनका लक्षण है—प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्व अर्थात् जिनका ज्ञान शास्त्रप्रवृत्तिमें कारण है, वे ही अनुबन्ध हैं। जब तक अपनेको अधिकारी नहीं समझता, तब तक कोई किसी कर्म या किसी शास्त्रके अध्ययनमें प्रवृत्त नहीं होता। यदि शङ्का हो कि ग्रन्थाध्ययनमें

**संसारकारणाविद्याध्वंसकृज्ज्ञानलब्धये ।**
**प्रारब्धेयं प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत्परा ॥ २ ॥**

किसीकी प्रवृत्ति ही न हुई, तो ग्रन्थकी रचना ही व्यर्थ है, क्योंकि ग्रन्थ तो परार्थ है; स्वार्थ नहीं। कीर्ति आदि स्वार्थ भी तभी हो सकता है जब कि अध्ययनाध्यापन द्वारा ग्रन्थका प्रचुर प्रचार हो। अतः उक्त शङ्काके परिहारके लिए प्रथम श्लोकके प्रथम पादके—**'पादाब्जभ्रमरा इमे'** इस पादके 'इमे' इस पदसे अधिकारीकी सूचना दी गई है। 'इमे' यह सर्वनाम बुद्धिस्थका परामर्शक है। बुद्धिस्थ है—नित्यानित्य-वस्तुविवेक, ऐहिक तथा पारलौकिक फलसे वैराग्य, शम, दम आदि साधन-सम्पत्ति और मुमुक्षत्व, इस प्रकारके चार साधनोंसे सम्पन्न पुरुष तथा 'पादाब्जभ्रमराः' इस पदसे गुरुवचनमें श्रद्धाविश्वासादिपूर्वक शुश्रूषा, अवधान आदि विशेष।

**'संसारकारण'** इस द्वितीय श्लोकसे प्रयोजन और विषयकी सूचना दी गई है। [ संसारः घटीयन्त्रवदविच्छिन्नजन्ममरणप्रवाहः तत्कारणमविद्या—आत्मयथार्थाननुभवः, तन्नाशकं ज्ञानमात्मयथार्थानुभवः तत्प्राप्तये इयं उपनिषदर्थतात्पर्य-निरूपणपरा प्रयत्नेन वेदान्तोपनिषत् प्रारब्धा ] अर्थात् संसारकी कारणीभूत अविद्याका विनाश करनेमें समर्थ आत्मतत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए, बड़े श्रमसे उपनिषद् अर्थके तात्पर्यके निर्वचनके लिए इस वेदान्तोपनिषत्का प्रारम्भ किया गया है। यद्यपि 'आरभ्यते' यह कहना चाहिए, क्योंकि आरम्भमें अभी वर्तमानकालता है, अतीतकालता नहीं, तथापि बुद्धिमें संग्रह कर चुके हैं, इस तात्पर्यसे अतीत कालका सूचन करनेके लिए 'प्रारब्धा' ऐसा कहा। प्रकृत ग्रन्थके अभ्याससे जन्य आत्माके यथार्थ अनुभवसे अभिव्यक्त पूर्वश्लोकस्थ तृप्तिशब्दसे सूचित नित्य निरतिशय स्वस्वरूप ब्रह्मसुखरूप प्रयोजन ही अज्ञातावस्थामें विषय है। 'यमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' इस न्याय-सूत्रके अनुसार ब्रह्मस्वरूप नित्य सुखकी अभिलाषासे अध्यात्मशास्त्रमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, अतः वही नित्यसुख ज्ञातावस्थामें प्रयोजन है। जीव और ब्रह्मका अभेदरूप ब्रह्मात्मैकत्व विषय है। संबन्धका निर्देश ग्रन्थकारने नहीं किया है, कारण कि बिना कहे भी ज्ञान और फलका उपायोपेयभावसम्बन्ध स्वयं ज्ञात हो जाता है और शास्त्र एवं विषयका प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव संबन्ध स्वयं ज्ञात होता है, इस प्रकार अनुबन्धचतुष्टयनिर्देशपुरःसर ग्रन्थारम्भ भी समर्थित हुआ ॥ २ ॥

अत्र चोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः ।
तच्छब्दावयवार्थस्य विद्यायामेव सम्भवात् ॥ ३ ॥
उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचि समाप्यते ।
सामीप्यतारतम्यस्य विश्रान्तेः स्वात्मनीक्षणात् ॥ ४ ॥

उपनिषत्शब्दका अर्थ है—ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान । अतः प्रकृतमें ग्रन्थतात्पर्यसे 'उपनिषत् प्रारभ्यते' ( उपनिषत्का आरम्भ किया जाता है ) यह प्रयोग उचित नहीं है और ज्ञान तथा ग्रन्थ दोनों उपनिषत्शब्दके अर्थ हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'एकार्थत्वे संभवति अनेकार्थत्वकल्पना अन्याय्या' इस न्यायसे एकार्थक ही उपनिषत्शब्द है, अनेकार्थक नहीं है । 'उपनिषदं भो ब्रूहि' इत्यादि प्रयोग ब्रह्मविद्यामें देखा जाता है । अनादि कालसे जिस अर्थमें जिस शब्दका प्रयोग पाया जाता है, वही उस शब्दका मुख्य अर्थ होता है । आधुनिक ग्रन्थमें 'उपनिषत्' शब्दका प्रयोग अनुचित है, इस तात्पर्यसे लिखते हैं—'अत्र च' इत्यादि ।

यह कहना युक्ति-युक्त है कि उपनिषत्शब्द ब्रह्मविद्याका बोधक है, क्योंकि उपनिषत्शब्दके निर्वचनसे उसका अवयवार्थ ब्रह्मविद्यामें ही सङ्गत होता है । जैसे 'बृंहयति' इस निर्वचनसे बृंहणकर्तृत्व ब्रह्मचैतन्यमें है, अतः ब्रह्मचैतन्य ही ब्रह्मशब्दार्थ है वैसे ही प्रकृतमें शक्तिग्रहका उपाय व्यवहार है और विवरण भी है—'वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति' इत्यादि ॥३॥

उपनिषत्शब्दका अवयवार्थ दिखलाते हैं—'उपोपसर्गः' इत्यादिसे । उपनिषत् शब्दमें चार अवयव हैं—उप, नि, सत् और क्विप्, अन्तिम लुप्त है और तीन विद्यमान हैं । उपका अर्थ है—सामीप्य, निशब्दका अर्थ है निश्चय, सद्धातुका अर्थ है विशरण, गति और अवसादन और क्विप्प्रत्ययका अर्थ है कर्ता । [अतः शुद्ध जीवमुपशब्दार्थसामीप्योपलक्षितं ब्रह्म निश्चितं नीत्वा—तत्स्वरूपं ग्राहयित्वा—सकार्यां समूलां चाऽविद्यां शिथिलयति–नाशयति—या सा उपनिषत्, इस प्रकारकी व्युत्पत्तिसे शुद्ध जीवको सामीप्योपलक्षित ब्रह्मके पास ले जाकर अर्थात् ब्रह्म-स्वरूपका बोध कराकर समूल अविद्याका जो विनाश करती है उसे उपनिषत् कहते हैं] विद्या और अविद्याका परस्पर विरोध होनेसे विद्या अविद्याकी निवर्त्तिका है । और अविद्याकी निवृत्ति होनेसे तत्कार्य संसारकी स्वतः निवृत्ति हो जाती है ।

**त्रिविधस्य सदर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम् ।**
**उपनीयेममात्मानं ब्रह्माऽपास्तद्वयं यतः ॥ ५ ॥**

इस श्लोकका तात्पर्यार्थ यह है कि सामीप्य दो प्रकारका होता है—सातिशय और निरतिशय । जैसे बाह्य विषयोंकी अपेक्षा आत्माके समीप शरीर है, उसकी अपेक्षा इन्द्रियाँ समीप हैं, और उनकी अपेक्षा मन समीप है । परन्तु इनका सामीप्य सातिशय है । निरतिशय सामीप्य है आत्मस्वरूपका, क्योंकि जाग्रत् अवस्थामें शरीरेन्द्रियादिका सम्बन्ध रहनेसे शरीरेन्द्रियादि समीप हैं । स्वप्नावस्थामें मनका सम्बन्ध रहनेसे मनका सामीप्य अन्तरङ्ग है । सुषुप्त्यवस्थामें मनका सम्बन्ध भी नहीं रहता, पर स्वरूपभूत आनन्द वहाँ भी रहता है, क्योंकि जागनेपर 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यादि परामर्श होता है और आत्मा जब कुछ देखना या सुनना चाहता है तब पहले अन्तरङ्ग मनको प्रेरित करता है । मन इन्द्रियोंको प्रेरित करता है, इन्द्रियाँ स्वस्वविषयमें प्रवृत्त होती हैं । इस कारणसे मनसम्बन्धपर्यन्त सामीप्य सातिशय है । प्रकृतमें निरतिशय सामीप्य विवक्षित है, मुख्यार्थकी संभवदशामें गौणार्थका ग्रहण अनुचित है । इस तात्पर्यसे लिखते हैं—**'सामीप्य तारतम्यस्य'** इत्यादि ।

सामीप्यकाष्ठाकी समाप्ति निरतिशय सामीप्यमें ही होती है, निरतिशय सामीप्य स्वरूप ही में होता है, अन्यत्र नहीं । यद्यपि अद्वितीयावस्थामें सामीप्यादि धर्म भी नहीं रहते हैं । इसलिए सामीप्योपलक्षित स्वरूप विवक्षित है । उपलक्षण वह है जो कभी लक्ष्यमें विद्यमान रहकर अविद्यमानावस्थामें भी इतर-व्यावर्तक हो । जैसे 'कमण्डलुपाणिश्छात्रः' यहाँपर कमण्डलु उपलक्षण है, सदा छात्रके हाथमें नहीं रहता, वैसे ही संसारदशामें काल्पनिक-धर्मधर्मिभाव ब्रह्ममें है ही; अतः सामीप्य भी काल्पनिक ब्रह्ममें है । परमार्थ-दशामें काल्पनिक सामीप्यके न रहनेपर भी ब्रह्मस्वरूपको तदुपलक्षित कहनेमें कोई बाधा नहीं है ॥४॥

सद् धातुका अर्थ विशरण, गति और अवसादन है । उपसर्ग धात्वर्थका द्योतक होता है, अतः उपसर्गके अर्थका पहले धात्वर्थमें ही अन्वय होता है । 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन' ऐसा शाब्दिकोंका सम्प्रदाय है । इसीके अनुसार लिखते हैं—**'त्रिविधस्य'** इत्यादि ।

निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद्भवेत् ।
निहत्यानर्थमूलं साऽविद्यां प्रत्यक्तया परम् ॥ ६ ॥
गमयत्यस्तसम्भेदमतो वोपनिषद्भवेत् ।
प्रवृत्तिहेतून्निश्शेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः ॥ ७ ॥

निशब्दार्थ निश्चय—गति, विशरण और अवसादनरूप त्रिविध सदर्थमें—विशेषण है। उसके द्वारा निशब्द भी विशेषण है, क्योंकि विशेषणताप्रयोजकत्वरूप विशेषणत्व निशब्दमें भी है। अतः निश्चित गति, निश्चित विशरण, निश्चित अवसादन यह अर्थ हुआ। निशब्दार्थविशेषित त्रिविध धात्वर्थमें उपशब्द भी स्वार्थ द्वारा विशेषण है। दो उपसर्गोंके अर्थ एक कालमें धात्वर्थमें विशेषण नहीं हो सकते, क्योंकि एक उद्देश्यमें अनेकका विधान करनेसे विधिभेदकी प्राप्ति होती है। किन्तु 'विशेष्ये विशेषणं तत्रापि विशेषणम्' इस न्यायसे निशब्दार्थ-विशेषित सदर्थमें उपशब्दार्थ विशेषण है [ ऐसी परिस्थितिमें 'जीवस्य सामीप्यो-लक्षितब्रह्मस्वरूपनिश्चितप्राप्तिः, ततः अविद्याशैथिल्यं ततस्तदवसाद एतत्सर्वं या करोति सा विद्या' यहांपर यह निष्कर्ष निकला कि पहले 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इस गीतावाक्यके अनुसार ब्रह्मस्वरूपप्राप्ति, तदनन्तर अविद्या-शैथिल्य और उसके बाद अविद्याका अवसाद यह सब जो करती है वह विद्या है। ] पर यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि जबतक अविद्या समूल निवृत्त न हो जायगी तबतक व्यवधायक अविद्या रहनेसे स्वरूप-प्राप्ति कैसे हो सकती है ? गतिका फल प्राप्ति है, गतिका अर्थ प्राप्ति नहीं है। गत्युपसर्जनप्राप्तिके गत्यर्थ होनेपर भी मुख्य गत्यर्थका भान नहीं होता, क्योंकि धातुपाठमें गतिका प्रधानतया निर्देश है। ब्रह्मस्वरूपता जीवमें नित्य प्राप्त है। अतः गतिपूर्वक प्राप्ति नहीं कह सकते, इन शङ्काओंकी निवृत्तिके लिए दूसरा अर्थ करते हैं—'**निहत्य**' इत्यादिसे ॥ ५,६ ॥

जो अनर्थमूल अविद्याका समूल नाशकर चैतन्यस्वरूपाभिन्न परब्रह्म-स्वरूपताको प्राप्त कराती है अथवा बोध कराती है, [ जो गत्यर्थ होते हैं वे बुद्धयर्थक भी होते हैं, ऐसा नियम है ] वह विद्या ही उपनिषत् शब्दका अर्थ है ग्रन्थ उपनिषत्शब्दका अर्थ नहीं है। एवंच ग्रन्थतात्पर्यसे उपनिषत्का प्रयोग ठीक नहीं है। यह कथन ठीक ही है कि विद्या उत्पन्न

होगी तो समूल और सकार्य अविद्याका नाश करेगी, किन्तु विद्योत्पत्ति होना ही कठिन है, क्योंकि रागादिदोषदूषित उन्मत्त मन सांसारिक विविध हेय और उपादेय विषयभोगोंकी लोलुपतासे उचितानुचित कर्ममें इन्द्रियोंकी प्रेरणा करता हुआ शुभ और अशुभ फल देनेवाले विहित तथा निषिद्ध कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा संसार-शृंखलासे पुरुषको जकड़ता ही रहेगा फिर विद्योत्पत्तिकी आशा करना दुराशामात्र है ? इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं—'प्रवृत्ति' इत्यादि ।

[ यह भाव है कि 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इस न्यायसूत्रके अनुसार मिथ्याज्ञान ही संसारका कारण है, क्योंकि मिथ्याज्ञानसे राग, द्वेष, मोह आदि दोष होते हैं । जैसे शरीरात्मज्ञानसे शरीरानुकूल विषयको आत्मानुकूल समझकर उसमें प्रवृत्ति होती है, यदि वह विहित है, तो धर्म होगा यदि निषिद्ध है तो कलञ्जभक्षण आदिके सदृश अधर्म होगा । ये धर्म और अधर्म सुवर्ण और लोहेकी शृंखलाके सदृश बन्धन ही हैं । इसीको कहते हैं प्रवृत्ति । 'प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः' इस सूत्रसे रागादि धर्माधर्मात्मक प्रवृत्तिके कारण हैं । इन्हींको भोगनेके लिए जन्म होता है । जन्म होनेपर फिर ये होते हैं । इस तरह घटीयन्त्रके समान इनका प्रवाह विच्छिन्न नहीं होता, इसीसे संसार अनादि कहलाता है । जन्म होनेपर दुःख अवश्य ही होगा, अतः आत्यन्तिक दुःखका उच्छेद हो ही नहीं सकता, इस आक्षेपके निराकरणके लिए 'दुःखजन्म०' इत्यादि सूत्र है ।

संक्षेपसे इसका तात्पर्य यह है—मिथ्याज्ञान ही परम्परासे संसारका कारण है । यदि मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति हो जाय, तो संसारकी भी अवश्य ही निवृत्ति हो जायगी, क्योंकि कारणकी निवृत्ति होनेपर कार्यकी अनुवृत्ति नहीं हो सकती । वह्निके न रहनेसे धूम भी नहीं रह सकता । यदि धूमका हटाना अभीष्ट तो पहले आग हटानी होगी ।

अब यह विचार करना चाहिए कि मिथ्याज्ञान नष्ट हो सकता है या नहीं ? मिथ्याज्ञान यदि जन्य है तो अवश्य विनाशी है । उसे जन्य तो सभी मानते ही हैं, किन्तु नाशके उपायके न होनेपर अथवा अज्ञात होनेपर वह नष्ट नहीं हो सकता । ये पक्ष नहीं हो सकते, कारण कि शास्त्रकारोंने तत्त्वज्ञान को मिथ्याज्ञानका नाशक बतलाया है ।

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥



# अच्युत

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥


वर्ष ४ } काशी, फाल्गुन १९९३ { अङ्क २


ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

# ललितापञ्चरत्नम्

प्रातः स्मरामि ललितावदनारविन्दं
बिम्बाधरं पृथुलमौक्तिकशोभिनासम् ।
आकर्णदीर्घनयनं मणिकुण्डलाढ्यं
मन्दस्मितं मृगमदोज्ज्वलफालदेशम् ॥ १ ॥

प्रातर्भजामि ललिताभुजकल्पवल्लीं
रक्ताङ्गुलीयलसदङ्गुलिपल्लवाढ्याम् ।
माणिक्यहेमवलयाङ्गदशोभमानां
पुण्ड्रेक्षुचापकुसुमेषुसृणीर्दधानाम् ॥ २ ॥

प्रातर्नमामि ललिताचरणारविन्दं
भक्तेष्टदाननिरतं भवसिन्धुपोतम् ।
पद्मासनादिसुरनायकपूजनीयं
पद्माङ्कुशध्वजसुदर्शनलाञ्छनाढ्यम् ॥ ३ ॥

प्रातः स्तुवे परशिवां ललितां भवानीं
त्रय्यन्तवेद्यविभवां करुणानवद्याम् ।
विश्वस्य सृष्टिविलयस्थितिहेतुभूतां
विद्येश्वरीं निगमवाङ्मनसातिदूराम् ॥ ४ ॥

प्रातर्वदामि ललिते तव पुण्यनाम
कामेश्वरीति कमलेति महेश्वरीति ।
श्रीशाम्भवीति जगतां जननी परेति
वाग्देवतेति वचसा त्रिपुरेश्वरीति ॥ ५ ॥

यः श्लोकपञ्चकमिदं ललिताम्बिकायाः
सौभाग्यदं सुललितं पठति प्रभाते ।
तस्मै ददाति ललिता झटिति प्रसन्ना
विद्यां श्रियं विमलसौख्यमनन्तकीर्तिम् ॥ ६ ॥

—श्रीशङ्कराचार्याः

# आध्यात्मिक होली

**[ एक परमहंस महात्माका प्रसाद ]**

वेदान्तवेद्य, अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्दसुधाजलनिधि, ब्रह्मेन्द्रादिकिरीट-कोटीडितपादपीठ * श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दकी तरङ्गस्थानीय परम अन्तरङ्ग परा प्रकृतिरूपा अनन्त जीवात्मिका शक्तियाँ अपने प्रियतमके सम्मिलनके बिना अनादि कालसे अत्यन्त ग्लानि और म्लानिसे युक्त होकर छट-पटा रही हैं। चिदानन्दमयी जीवात्मिका शक्तिका अतात्त्विक अनिर्वाच्य अविद्यामय आवरणात्मक व्यवधानको हटा कर सर्वव्यवधानशून्य तादात्म्यापत्ति-स्वरूप संश्लेषको प्राप्त करना ही सम्पूर्ण पुरुषार्थोंके सारके रहस्यको जाननेवाले महात्माओंकी दृष्टिमें परम पुरुषार्थ है। परन्तु इसका मूल प्रियतमभावरस-भाविता मति ही है। इसकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय प्रियतमसम्मिलनके लिए व्याकुलता या चञ्चलता ही है—

"कृष्णभावरसभाविता मतिः, क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र मूल्यमपि लौल्यमेकलम्,"

परन्तु मायामोहित होनेके कारण वे अपने प्रियतम और उनके साथ अपने सम्बन्धको भूलकर मायामय नाना प्रलोभनोंमें आसक्त हैं। अतएव प्रियतमके संगसे उत्पन्न होनेवाले दिव्य सुखरूप सुधाके समास्वादनसे वञ्चित हैं। बिना किसी कारणके ही करुणा करनेवाले प्राणनाथने अपनी चिदानन्दमयी प्रियतमाओंको स्वसंश्लेषजन्य दिव्य सुखसे वञ्चित जानकर और ये मायामोहसे सम्बन्धज्ञान एवं अपने सर्वस्वके सम्मिलनसे होनेवाले सुखानुभवसे रहित हैं, अत एव सम्मिलनलौल्यरूप सम्मिलनके असाधारण हेतुको प्राप्त नहीं कर सकतीं, परन्तु मैं तो सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् हूँ, फिर इन म्लानिपरम्परानिमग्न विरहिणी प्रियतमाओंकी विरहव्यथाको क्यों न दूर करूँ, यह समझकर पहले तो शास्त्र तथा शास्त्रज्ञरूप सन्देशहरोंसे अपने अनन्तमाधुर्यसारसर्वस्व तथा उसके आलिङ्गनसे उत्पन्न होनेवाले परम आनन्द एवं सम्मिलनवाञ्छाको उत्तेजित करनेवाले अविघटनशील तादात्म्यसम्बन्धका सूचन करके प्रियतमा-ओंको सम्मिलनके लिए प्रोत्साहित किया। सन्देशों द्वारा ही प्रियतमाओंके

---

* ब्रह्म, इन्द्र आदिके मुकुटकोटिसे संस्तुत है पादपीठ जिनका।

हृदयमें सम्मिलनके बिना व्याकुलताका संचार होता है। भगवत्सम्मिलनके लिए उत्कट व्याकुलता ही अनन्त पाप, ताप आदि प्रतिबन्धकोंको दूर करके सम्प्रयोग-रसामृतका यथेष्ट अवगाहन करती है। अतः मानो प्रियतम ही विरहव्यथा-सम्मिलनचञ्चलताको पूर्णरूपमें उद्दीपित करनेके लिए अनेक प्रकारके उद्दीपन विभावोंको व्यक्त करते हैं, इसीसे प्रभुके मनके अनुकूल 'अपरा प्रपञ्चप्रकृति प्रभुके इशारेसे ही अनन्त प्रपञ्चको प्रदर्शित करती हुई मानो प्रभुप्रसन्नताके लिए व्यग्र है। प्रतिक्षण परिणमनशाली उसके प्रत्येक तत्त्व बड़ी उतावलीके साथ मानो प्रभुसम्मिलनके लिए प्रगतिशील हो रहे हैं—मेघमण्डल, नक्षत्र-मण्डल, सूर्य, चन्द्रमा, तदाधार प्रवह वायु, तेजोमण्डल, जलपूरित नदी, नद आदि एवं पृथिवी, पार्थिव, वीरुध आदि अनन्त प्रपञ्च स्वाधिष्ठानभूत अनन्त चैतन्या-नन्दघनके सम्मिलनके ही लिए व्यग्र होकर उसीके भीतर चञ्चल हो रहे हैं।

यद्यपि ये सब अनन्त चैतन्यानन्दसुधा-जलनिधिके भीतर ही हैं और उनके भीतर, बाहर, मध्यमें परमाणु-परमाणुमें उनका प्रियतम व्याप्त है, तथापि 'बरफ-पूतरी सिन्धुबिच, रटत पियास-पियास' की स्थिति प्रत्यक्ष ही है।

प्रत्येक ऋतु किसी न किसी भावको ही लेकर प्रकट होती है। प्रत्येक वस्तु भावसे ही भरपूर है। वसन्तके समागममें प्रकृतिके समस्त विकारात्मक भावोंमें कोई नवीन उत्साह-शक्ति भर जाती है। वृक्ष, लता आदि वनस्पतियोंमें ग्लानिके अनन्तर पुनः अरुणदल अङ्कुरित होते हैं मानों तीव्र वियोग-व्यथासे शुष्क होकर पुनः सम्मिलनकी आशासे पल्लवित होते हैं। यही स्थिति रसकी होती है कभी नैराश्य और कभी आशा। वसन्त मदनसखा है। उसकी सहायतासे एवं किंशुक आदि पुष्प, सुकोमल पल्लव, स्तवक आदिके विकाससे प्राकृत नायिकाओंमें भी प्रियतमसम्मिलनका उत्साह बढ़ जाता है। फिर प्रकृति और प्राकृततत्त्व अपने प्रियतमके सम्मिलनके लिए क्यों न उत्सुक हों। नायिका अपने नायकके तीव्रवियोगजन्य तापसे सन्तप्त होकर सम्मिलनसम्भावनासे रागान्वित होती है। वियोगाग्निसे शुष्क एवं पीतताको प्राप्त नायिकाओंमें भी मिलनसम्भावनासे अरुणिमाका सञ्चार होता है, मानो उसीका द्योतक गुलाल-प्रसार होता है। दिग्-दिगन्तमें गुलालके संचारसे मानो रागका ही संचार होता है—उत्सुकताका संचार होता है। मानो ये सभी भाव चिदानन्दमयी परा प्रकृतिरूपा अन्तरङ्ग शक्तियोंको भी चिदानन्दघन प्रियतमके सम्मिलनके लिए उत्सुक कर नवीन

प्रयत्न तथा चञ्चलताका सञ्चार करते हैं। तीव्रवियोगाग्निमें समस्त प्रतिबन्धक शुभाशुभ कर्मोंको जलाकर स्थायी अनुरागका प्रसार किया जाता है। यही होलिकादहनके अनन्तर रोलिकाप्रसार है। व्रजाङ्गनाएँ भी दुःसह प्रियतमविरहरूपी तीव्र तापसे शुभाशुभ कर्मरूप प्रतिबन्धको दूर करके स्थायी रागसे रञ्जितचित्त होकर व्रजेन्द्र-नन्दनके साथ होली खेलकर अपने रङ्गमें प्रियतमको रँगकर प्रियतमके रङ्गमें स्वयं रँग गईं। चिदानन्दमयी जीवरूपा प्रकृति भी यहाँ तक रञ्जित होती है कि भीतर-बाहर प्रियतम स्वरूप ही हो जाती है। प्रियतम ही मैं हूँ या मैं ही प्रियतम हूँ—'असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका', 'कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्'। प्रियतम ही मैं हूँ, ऐसी स्थिति व्रजसीमन्तिनियोंकी भी थी। परमाह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनीकी भी 'मधुरिपुरहमिति भावनशीला' के अनुसार यही स्थिति थी। इधर निर्मल प्रज्ञारूपा नायिका भी अपनी अनन्त वृत्तिरूप अनन्त सखियोंके साथ प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमानन्दघन भगवान्के संमिलनके लिए व्यग्र है। आशा-निराशाके मध्यमें कष्टमयी स्थितिका अनुभव चिरकालसे प्रवृत्त ही है। विचार एवं तीव्र वैराग्यरूप अग्निसे बाह्य आशापाशोंको जलाकर बोधरूप रङ्गमें रञ्जित दृष्ट्यन्तरशून्य तथा दृश्यसंसर्गशून्य होकर प्रियतमके स्थिर संश्लेषका अनुभव करती है स्वरूपबोधक वाक्य या अभिधानरूप पिचकारी द्वारा स्निग्ध-मानसपरिणामरागोपेत बोधरूप रङ्गसे प्रियतमको अपने रङ्गमें रँग देती है और प्रियतमके स्वरूपमें अपने को रँग लेती है अर्थात् प्रियतमके ही आकारमें आकारित हो जाती है।

कमलदललोचनालोचनपरम्परामें अपनेको रँगकर अरुण होलिकोत्सवके गुलालरोलिकाके विस्तारमें सपरिकर नायकशिरोमणि श्रीकृष्णचन्द्र और नायिकाशिरोमणि श्रीराधारानी दोनों एकरूप हो गए। आकाश, वन, उपवन, लता, वृक्ष सर्वत्र ही अरुणिमा छा गई, मानो एक अनुरागरसके साथ सम्पूर्णतया विश्वकी ही तादात्म्यापत्ति हो गई। रसविशेषके विकाशमें वृषभानुसुताकी अन्तरङ्ग प्रिय सखियाँ चतुरचूड़ामणि रसिकशेखरको नवलनागरीके आभरण-वसनसे भूषित करके अपनी स्वामिनीके सांनिध्यमें सर्वथा उनके अधीन या उनके रूपमें ही व्यक्त करती हैं। कभी अपनी स्वामिनीको उनके प्रियतमके रूपमें व्यक्त करती हैं, मानों वृत्तियां प्रत्यक्चिदानन्दको अपनी स्वामिनी प्रज्ञा देवीके रूपमें परिणत करके सर्वथा तदधीन या तद्रूप ही बना

देती हैं—'ध्यायतीव लेलायतीव'। कभी अपनी स्वामिनीको ही उनके स्वामीके स्वरूपमें अर्थात् चिदानन्दस्वरूपमें व्यक्त करके दोनोंको नेहनिकुञ्जमें एक करके स्वयं अदृश्य हो जाती हैं अथवा साक्षात् चिदानन्दमयी परा शक्ति स्वयं ही प्रेमोन्मादमें या तत्त्वदृष्टिसे प्रियतमको स्व-स्वरूपमें ही परिणत कर परिरम्भण करती है। कभी अपनेको ही प्रियतमके रूपमें परिणत करके तादात्म्यापत्तिरूप संश्लेषका अनुभव करती है—'यो वै भगवो देवते त्वमसि'।

परप्रेमास्पद प्राणनाथका परिरम्भण बड़े सौभाग्यसे ही होता है। उसमें बड़ी योग्यताकी अपेक्षा होती है। सम्मिलनसम्भावनासे उत्सुकता होती है। जैसे एक दीन-हीन भिक्षुकीको वैषम्यावधारणके कारण सम्राट्के परिरम्भणकी सम्भावना ही नहीं होती, अतः उसकी उत्सुकता अभ्युदित ही नहीं हो सकती। इसी वास्ते यद्यपि प्रभुने 'सखायौ सयुजौ सुपर्णौ' इत्यादि सन्देशवाक्योंसे परम घनिष्ठ तादात्म्यसम्बन्ध सूचन किया है। जहां जीवशक्तियाँ अपनेको कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक अनर्थोंसे संयुक्त दीन-हीन एवं प्रभुको नित्य, शुद्ध, मुक्त, अनन्तकोटिब्रह्माण्ड-नायक समझकर विषमतावश प्रभुपरिरम्भण दुर्लभ समझती थीं, वहाँ प्रभुने सूचित किया कि तुम्हारा प्रभु तुमसे दूर नहीं, किन्तु समान ही स्थानपर तुम दोनोंका निवास है—'समानं वृक्षं परिषस्वजाते'। 'सखायौ' समान ही तुम दोनोंका ख्यान अर्थात् स्फुरणरूप स्वरूप है तथा समान ही निर्मल चेतन सहज सुखराशिरूपसे तुम दोनोंकी ख्याति भी है। फिर ऐसे अत्यन्त सजातीय सदा ही संनिहित रहनेवाले प्रियतमको दुर्लभ समझकर लालसाकी कमी क्यों? यद्यपि हो सकता है कि प्रभु असंग है, अतः साजात्य और सन्निधान होते हुए भी प्रिय-संस्पर्श दुर्लभ हो, तथापि 'सयुजौ'—सदा ही सम्बन्ध विद्यमान है। युज्यते अनेन इति युक्, समानः—अविशेषो युक्—तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो ययोस्तौ सयुजौ। समानदेशनिवासी होनेपर भी विजातियोंका सम्मिलन नहीं हो सकता, परन्तु तुम तो दोनों ही सुपर्णरूपसे सजातीय हो। साजात्य होनेपर भी भिन्न देश होनेसे सम्मिलन असम्भावित होता है। परन्तु यहांपर तो साजात्य, सादेश्य दोनों ही हैं। चेतन आनन्दरूप होनेसे तुम्हारा साजात्य एवं समानदेश होनेसे सादेश्य है। ऐसी स्थितिमें विषमताका कोई हेतु नहीं है। इतना ही नहीं, प्रत्युत भेदक वैधर्म्य न होनेसे भेद भी असिद्ध ही है, क्योंकि स्वरूपभेद तथा देशभेद न होनेपर वस्तुका भेद ही कैसे सिद्ध हो सकता है?

स्वरूपभेद या देशभेदसे ही भेद सिद्ध हो सकता है। यह नहीं हो सकता कि समान स्वरूपवाले दो आकाश समान ही देशमें रहें। हाँ, सोपाधिक और निरुपाधिक भेदसे या घटाकाश और मठाकाश भेदसे एक ही देशमें एक रूपमें दोनों रह सकते हैं। जैसे मठान्तर्गत घटके होनेसे मठाकाश और घटाकाशका साजात्य एवं सादेश्य कहा जा सकता है। समान वृक्षपर दो पक्षी रहते हैं, परन्तु उनका सादेश्य निरुपचरित नहीं है, क्योंकि जिस स्थानमें एक पक्षी है, उससे भिन्न ही स्थानमें दूसरा पक्षी है। सर्वथा सादेश्य असम्भव ही है। परन्तु प्रकृतमें जीवरूप पक्षी चाहे परिच्छिन्न ही क्यों न हो, किन्तु परमेश्वररूप पक्षी तो सर्वसम्मतिसे अपरिच्छिन्न—व्यापक—है। उससे शून्य देश ही नहीं है, जहां जीवरूप पक्षीकी स्थिति हो। हाँ, यदि आकाशके समान अन्तःशून्य हो, तो हो भी सकती है। किन्तु निरवकाशात्मक परमात्मामें तो वही गति है, जो कि तादात्म्यसम्बन्धके योग्य हो। कहीं साजात्य और सादेश्य होनेपर भी दुरदृष्टवश वैर होता है, परन्तु यहां तो परम सख्य है।

इस तरह लोकप्रसिद्ध वैषम्यका निवारण करके सम्मिलनसम्भावना स्थिर की गई। कुछ महानुभावोंका कथन है कि जैसे दूरस्थ प्राणियोंको वनस्पति एकत्वेन गृहीत होता है, सामीप्य होनेपर उसकी शाखा, उपशाखा, पल्लव, पत्र, पुष्प आदिका भेद प्रतीत होता है, वैसे ही पहले केवल अद्वैततत्त्वका ही बोध होता है। तत्त्वसान्निध्य होनेपर चित्-अचित् विशेषणोंसे विशिष्ट तत्त्वका ग्रहण होता है। तथा च पहले विद्यमान भी विशेषणभेद दूरस्थत्वादि दोषसे केवल अद्वैतके अनुभवियोंको व्यक्त नहीं होता है। सान्निध्य होनेपर अन्तरङ्ग भावुकोंको विशेषण गृहीत होते हैं। इसीमें 'चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा'—इस माघके श्लोकका भी उपस्थापन करते हैं। लोगोंको पहले श्रीदेवर्षि नारदमें दीप्तिचयमात्रकी बुद्धि हुई। सान्निध्य होनेपर क्रमशः विशिष्ट बोध हुआ। परन्तु प्रकृतमें यह दृष्टान्त अत्यन्त ही असंगत है। कारण, दृष्टान्तोंमें तो प्रथम निर्विशेषता और अद्वितीयता गृहीत होती है पश्चात् सविशेषता और सद्वितीयता गृहीत होती है, यह सर्वसम्मत है। परन्तु दार्ष्टान्तमें तो अद्वितीयता और निर्विशेषता पूर्णातिपूर्ण साधनाभ्यासके बिना गृहीत ही नहीं हो सकती। सविशेषता और सद्वितीयता तो किञ्चित्प्रयत्नके बिना भी अत्यन्त पामरको भी प्रसिद्ध ही है। फिर प्रथम बहिरङ्गोंको अद्वितीयता और निर्विशेषता गृहीत होती है, यह कथन स्वाप्निक विलास ही है। तथा अत्यन्त बहिर्मुख पामरग्राह्य सद्वितीयता और सविशेषताको अन्तरङ्ग प्रयत्नग्राह्य कहना भी बुद्धिका ही खेल है, अतः इस विषयपर कुछ भी कहना व्यर्थ है।

वास्तवमें यहां अबोधपूर्वक अद्वितीयता नहीं है, किन्तु वह बोधका ही दिव्य फल है। जैसे सप्रतिबिम्ब दर्पण स्वविलक्षण शुद्ध अपने निष्प्रतिबिम्ब रूपमें प्रतिबिम्बको विलीन कर, भेदभ्रमको मिटा कर ऐक्यापत्तिरूपका अनुभव करता है। यहाँ अपने ही वास्तव स्वरूपका भूलना विप्रयोग है एवं अपने ही वास्तव स्वरूपको पहचानना दिव्य सम्प्रयोग है—

अपुन पो आपुन ही बिसर्‌यो। अपुन पो आपुन ही में पायो॥ (सूर०)

सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि योगी।
सो हरिपद अनुभवै परम सुख अतिशय द्वैतवियोगी॥ (तुलसी०)

यहां उसी सकल दृश्य भेदका स्वस्वरूपमें विलयन कहा गया है, वह भी निद्रा त्यागकर, सुषुप्तिकी तरह नहीं; क्योंकि वहाँ तो कारणरूपसे प्रपञ्चभ्रम विद्यमान ही रहता है। परन्तु यहाँ आत्यन्तिक स्वरूपसे ही भेद-भ्रमका मिटाना विवक्षित है, यही अतिशय द्वैतवियोग स्व-स्वरूपाभिन्न हरिपद-अनुभव है यही प्रियतमपरिष्वङ्ग है। प्रभुने सन्देशवाक्योंके सिवा साक्षात् भी अपने सखासे अपना सम्बन्ध बतलाया है। वह सम्बन्ध यही तादात्म्यस्वरूप है—

'अहं भवान् न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः।
न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि॥'

यद्यपि असंगमें मुख्य सम्बन्ध नहीं है, तथापि महाकाश और घटाकाश एवं महासमुद्र और तरंगके समान तादात्म्य सम्बन्ध है अर्थात् जैसे तंरगके भीतर और बाहर जल ही परिपूर्ण है, वैसे ही तुम्हारे भीतर, बाहर और मध्यमें प्रियतम ही परिपूर्ण है।

इस तरह प्रभुके सन्देशसे भी यदि मायामोहित होनेके कारण यथार्थ सम्बन्धका साक्षात्कार न हुआ, तो धर्मानुष्ठानके द्वारा अन्तर्मुखताका सम्पादन करना सूचित किया गया।

इस तरह वसन्तागम, होलिकादहन, पतझड़, नवपल्लवसञ्चार, गुलाल-प्रसार, सुहृत्संमिलन, दुर्गापूजन आदि ये सभी विश्वव्यापी प्रकृतिविलास चिदानन्दमयी परा प्रकृति जीवशक्तिके प्रियतमसंस्मरण, सम्मिलनलौल्य, प्रयत्नानुष्ठान और सम्मिलनमें सहायक होते हैं। स्थूल दृष्टिमें भी वसन्त प्राचीन-नवीन भावोंकी सन्धि है। एक ओर ग्लानि और म्लानि सहित प्राचीनताकी समाधि, दूसरी ओर हर्ष, उत्साह और उल्लासके साथ-साथ नवीनताका सञ्चार हो रहा है। प्राचीन संवत्सरकी समाप्ति होलिकादहनसे ही मानी जाती है।

जैसे प्राचीन सम्राट्का शासनकाल समाप्त होने तथा नवीन शासनकाल आरम्भ होनेसे नवीनता होती है। प्राणी वाद्य, गीत तथा गुलालादिप्रसार द्वारा परस्पर सम्मिलन कर प्रेम-उत्साहसे समन्वित होकर अभ्युदयके लिए प्रयत्नशील होते हैं।

अभ्युदयका मूल शक्तिपूजन है, अतः दुर्गापूजनकी भी सङ्गति ही है। यह प्रकृतिका चक्र सदा ही परिवर्त्तनशील है। यह नहीं कि प्राक्तन भावोंसे अत्यन्त नवीन ही भावोंका आगमन हुआ हो, किन्तु 'भूत्वा भूत्वा स एवायं भूतग्रामः प्रलीयते' के अनुसार यह उसीका या उसके सजातीय तत्त्वका ही गमनागमन है। प्राचीनता ही एक दिन नवीन रूप धारण करती है। जो वृक्ष कभी नीरस पत्र-पल्लव आदिसे विहीन होता है वही फिरसे सुकोमल पल्लवदलोंसे सम्पन्न होता है। उसीके सुमधुररससौगन्ध्योपेत पुष्पस्तवकपरागसे आकर्षित होकर अलिकुलमालाएँ शोभा बढ़ाने लगती हैं। विविध कलभाषी विहंगम फिरसे वहीं निवास करते हैं। यही परिवर्त्तन-निराशामें आशाका सञ्चार करता है। अनुत्साह और खेदका त्यागकर साधकके मनमें फिरसे साधना-भ्यासकी तैयारी होती है। अवनतिकाल ही प्रेमकी परीक्षाका स्थान है। उन्नति-कालमें तो सभीका आकर्षण स्वाभाविक ही है। अवनतिकालमें भी जिसका प्रेम अक्षुण्ण है, वही यथार्थ प्रेमी है। भाँति भाँतिके सरोजोंसे परिपूर्ण सरोवरमें विविध प्रकारके विहंगम तथा भ्रमरवृन्द रहते ही हैं, परन्तु सरोवरकी श्रीविहीन अवनति-दशामें विहङ्गम अम्बरतलकी ओर भ्रमरवृन्द रसालमुकुलसौरभकी ओर खिसक जाते हैं। सभीके प्रेमका पता लग जाता है। फिर तो केवल अनन्य प्रेमी मीन ही रह जाता है। यही सुअवसर उसकी परीक्षाका है। यदि इस स्वर्णसंयोगमें वह चुक जाता, तो कविकुलमें 'जग यशभाजन चातक मीना' ऐसी प्रशंसा उसकी न होती। वह तो अनन्य है, कहाँ जाय? उसका कोई आश्रय ही नहीं है—

आपेदिरेऽम्बरतलं परितः पतङ्गाः,
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ते।
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीने,
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥

यही स्थिति इस समय वर्त्तमान प्राचीन वृद्ध वैदिक सनातनधर्मके अनुरागियोंकी है। इसकी दीन-हीन दशा देखकर सभी इससे विरक्त हो रहे हैं। नाना प्रकारके मृगतृष्णिकामय प्रलोभनोंसे बड़े धैर्य्यशालियोंके धैर्य्य डिगने लगे हैं,

सनातनाभिमानियोंको भी उस वृद्धके अंग-भंग करने या उसके परिष्कार करनेकी सूझ हुई है, उसकी रक्षाके ठेकेदार ही उसके भक्षक हो रहे हैं। आखिर शास्त्र-ज्ञानाभिमानियोंको भी इन्हींके मतका समर्थन करना पड़ता है, क्योंकि अर्थतृष्णाके सामने विचारे धर्मकी क्या गणना, फिर तो प्रतिष्ठाविस्तार तथा जनसंग्रहके स्वार्थमें अन्धसाधक समाजके विपरीत शास्त्रोंमें कोई भी निषेध दृष्टिगोचर नहीं होगा। समस्त शास्त्र उच्छृङ्खल पन्थके ही पोषकरूपमें दिखाई देंगे। ऐसी स्थितिमें मीनके समान कोई विरल ही अनन्य वृद्ध वैदिक सनातनकी ही सेवामें अपनेको सौभाग्यशाली समझेगा। 'धत्ते धैर्य्यं तु यो धीमान्' वही अनन्त मायामय प्रलो-भनोंको ठुकरा कर घोर विपत्तिको सहनकर संसारभरकी उपेक्षा कर अकेले भी उस वृद्धकी ही सेवामें अपना सौभाग्य समझेगा। सामान्य प्राणी भी जब कि अपने लगाये हुए विष-वृक्षको बचानेके लिए प्रयत्न करता है। तब सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने प्रतिष्ठापित निःश्रेयसनिदान वैदिकधर्मके संरक्षणकी क्यों उपेक्षा करेंगे।

यह परिवर्तन, यह वसन्तागम उनके हृदयमें भी आशाका संचार करता है। उत्साहपूर्वक प्रयत्नशक्तिको जाग्रत् करता है तथा शक्ति उपोद्बलनके लिए महाशक्ति दुर्गाके आराधनकी अनुमति देता है। यह उपलक्षण है। समस्त पुरुषार्थके लिए निराशा-निराकरण और आशासंचारपूर्वक उत्साहशक्ति प्रयत्न आदिका साहाय्य वसन्तके इङ्गितसे प्राप्त होता है, अतः सुतरां चिदानन्दघनकी चिदानन्दमयी शक्तियोंको भी अपने प्रियतमके संश्लेषरूप परमपुरुषार्थमें साहाय्य प्राप्त होता है।

सपरिकर प्रकृतिका प्रभुसम्मिलनके उत्साहको देखकर उन्हें भी उत्कण्ठा होती है, सम्मिलनकी उत्कण्ठासे ही स्वाभाविक उच्छृङ्खलतारूप विघ्नको स्वधर्मा-नुष्ठान द्वारा दूर करके दुर्गमसंगमनी सर्वाभीष्टपूरयित्री श्रीदुर्गाकी आराधनाकी तैयारी करनी होती है। स्वाभीष्ट पतिमिलनके लिए कुमारिकाओंकी दुर्गा-पूजनकी पद्धति लोकमें भी प्रचलित है, मानो होलिकोत्सवसे उत्साहित होकर प्रियतमसम्मिलनके लिए योग्यतासम्पादनार्थ ही दुर्गापूजनका आगमन है। उत्कट-उत्कण्ठापूर्वक श्रीगौरीके समाश्रयणसे सब विघ्नोंकी निवृत्तिपूर्वक दुर्लभ तत्त्वोंकी प्राप्ति होती है। असुरोंसे उत्तप्त देवताओंने अनेक बार उसीके समाश्रयणसे विजयश्री प्राप्त की थी। अधर्मोद्भव धर्मग्लानिसे उद्विग्न धार्मिकोंने भी उसी भगवती परा शक्तिका समाश्रयण करके धर्ममें जीवनशक्तिके संचारका सम्पादन किया है।

# सुखी हो जा ! शान्त हो जा !!

*( लेखक—यतिवर श्रीभोलेबाबाजी महाराज )*

भाई ! चुपचाप क्यों बैठा है, उठ खड़ा हो, आलस्यको दूर भगाकर खड़ा हो जा, आलस्य अच्छा नहीं है। सब दुःखोंका मूल आलस्य ही है, आलस्यसे समस्त अनर्थ उत्पन्न होते हैं। आलसी मनुष्य गीतामें तमोगुणी कर्ता कहा गया है। निरुद्यमी मनुष्य मरे हुएके समान है। उसका जीना और न जीना एक-सा है। कुंभकर्णकी भाँति नींदमें दिन गँवाना अच्छा नहीं है। नींद त्याग दे, आलस्य दूर भगा दे, खड़ा हो जा, उद्यम कर। न करनेसे करना अच्छा है। बिना कर्म किये देहका निर्वाह भी नहीं हो सकता। देहधारीको कर्म करना ही चाहिए, कर्म करनेके लिए ही तो विश्वनाथने यह शरीर दिया है। जो आलस्यसे कर्म करना छोड़ देते हैं, उनको इस लोकमें क्या परलोकमें क्या कभी भी सुख नहीं मिलता, प्रत्युत दुःख ही मिलता है। आलस्य समस्त अवगुणोंकी खान है, समस्त दुःखोंका भण्डार है। आलस्यको छोड़ दे, मोहनिद्राका त्याग कर दे। यज्ञ कर, तप कर, दान कर, धर्म कर, स्वाध्याय कर, धन कमानेमें कसर न कर। धनसे ही समस्त पुण्य कर्म होते हैं। यदि तू कहे कि थोड़ा-सा पेट भरनेके लिए कमा लिया करूँगा, तो यह तेरा कहना ठीक नहीं है। यहां तू कर्जा चुकानेको आया है, माताका कर्जा तुझे चुकाना है, पिताका ऋण तुझे देना है, आचार्यको धन देना पड़ेगा, ब्राह्मणोंका, राजाका, इष्ट-मित्रोंका कर्जा तुझे कौड़ी-कौड़ी चुकाना होगा। देवताओंका, पितरोंका, ऋषियोंका भी तेरे ऊपर ऋण है, उसे चुकाना तेरा धर्म है। ऋण चुकाये बिना अनृण नहीं हो सकेगा, इसलिए धन कमानेमें कसर मत कर, धर्मसे कमा, पुरुषार्थ करके कमा, सिंहका-सा स्वभाव रख, गीदड़के समान दूसरेका जूठा खानेकी इच्छा मत कर। हाथ ऊँचा रख, किसीके सामने नीचा हाथ मत कर। जब कमावेगा ही नहीं तो किसीको देगा कहांसे ? श्रुति कहती है—'भूत्यै न प्रमदितव्यम्' यानी धनके लिए प्रमाद करना नहीं चाहिए, इसलिए धन कमा कर सबका ऋण चुका कर सुखी हो जा ! शान्त हो जा !!

यह श्रुति कहांकी है, क्या कुछ और भी कहती है, यह जानना चाहता है, तो सुन; तैत्तिरीय श्रुतिकी शिक्षावल्लीमें कहा है—स्वाध्यायसे वेदके अध्ययनसे—प्रमाद मत कर यानी नियमसे स्वाध्याय किया कर। आचार्यको गो, सुवर्ण, आदि धन शास्त्र विद्याके निष्क्रयके लिए ला कर दे। प्रजातन्तुका छेदन मत कर यानी अनुरूप भार्याके साथ विवाह करके पुत्र उत्पन्न कर, मोक्षके लिए भी पुत्रके उत्पन्न करनेकी आवश्यकता है, क्योंकि पितृ-ऋण न चुकाना भी मोक्षमें प्रतिबन्धक है। सत्यसे प्रमाद मत कर यानी सर्वदा सत्य भाषण और सत्य व्यवहार कर। धर्मसे प्रमाद मत कर यानी आलस्यसे स्वधर्मका त्याग कभी मत कर। कुशलसे प्रमाद मत कर यानी देहकी आरोग्यता आदिके उपायोंका नियमसे पालन किया कर। धन कमानेसे कभी प्रमाद मत कर। स्वाध्याय और प्रवचनसे कभी प्रमाद मत कर। माताका देवीके समान भजन कर। पिताका देवके समान पूजन कर। माता, पिता घरमें ही प्रत्यक्ष तीर्थ हैं, यह शिष्ट पुरुषोंका भी वचन है। आचार्यका देवके समान पूजन कर। अतिथिका देवके समान पूजन कर। सर्वथा निर्दोष कर्मोंका सेवन किया कर, दोषयुक्त कर्मोंसे दूर रहा कर इत्यादि श्रुतियां उद्यम करनेमें प्रमाण हैं। उद्यमके बिना कुछ प्राप्त नहीं होता। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ उद्यमसे ही सिद्ध होते हैं। तमोगुणको रजोगुणसे जीतना चाहिए, रजोगुणको सत्त्वगुणसे जीतना चाहिए, सत्त्वगुणको गुणातीत परब्रह्मके अनुसंधानसे जीतना चाहिए, ऐसा वृद्ध पुरुषोंका मत है; इसलिए क्रिया करके आलस्यको भगा दे। आलस्यके दूर होनेसे यज्ञ, तप, दान और स्वाध्याय स्वयं ही बिना प्रयत्नके अथवा थोड़े प्रयत्नसे होने लगेंगे, इसलिए आलसी मत बन, पुरुषार्थी बन, यज्ञ कर, तप कर, दान कर, स्वाध्याय कर, इन सबको ईश्वरार्पण कर, फलकी यानी सांसारिक फलकी इच्छा मत कर। अन्तःकरण शुद्ध करके सुखी हो जा! शान्त हो जा!!

यदि कहे कि स्त्रीके बिना यज्ञ नहीं हो सकता, मेरी स्त्री नहीं है, इसलिए यज्ञ नहीं कर सकता, तो पात्रोंको दान ही किया कर, दान करनेसे ही अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा। यदि कहे कि मेरे पास दान करनेके लिए धन नहीं है, तो भले ही दान न दे, पर दूसरेका धन लेनेकी इच्छा कभी मत कर। सत्य, तप और स्वाध्याय तो तू कर ही सकता है, अतः इन तीनोंको ही किया कर। इनके करनेसे तेरा कल्याण हो सकता है। यदि कहे कि सत्य बोलना तो चाहता हूँ,

परन्तु ईश्वरकी मायासे मोहित होकर काम, क्रोध और लोभके वश मिथ्या बोलनेमें तत्पर हो जाता हूँ, तो तप और स्वाध्याय तो नित्य किया ही कर। यदि कहे कि तप करना कठिन है, मुझसे नहीं बन सकता, तो स्वाध्याय ही केवल कर लिया कर। एक स्वाध्यायके करनेसे ही तप और सत्य दोनों सिद्ध हो जायँगे। स्वाध्याय करनेसे काम, क्रोध आदि दुर्बल हो जायँगे, तेरे मनके ऊपर अपना प्रभाव नहीं जमा सकेंगे, इससे सत्यकी सिद्धि हो जायगी और स्वाध्याय तो स्वयं तप है ही। वाणीका तप तो वह प्रत्यक्ष है ही, कायाका और मनका तप भी स्वाध्याय है, इसलिए स्वाध्याय नियमसे प्रेमपूर्वक किया कर। यदि कहे कि मैं विशेष पढ़ा हुआ नहीं हूँ यानी वेद मैंने पढ़ा नहीं है, इसलिए स्वाध्याय नहीं कर सकता, तो 'अहं वृक्षस्य रेरिवा' इत्यादि मंत्रका पाठ कर लिया कर। यदि कहे कि मेरे लिए तो काला अक्षर भैंसके बराबर है, इसलिए इस मंत्रका भी मुझसे पाठ नहीं हो सकता, तो ईश्वरके किसी नामका ही जप नित्य निरन्तर करता रह, इससे भी धीरे-धीरे अथवा शीघ्र भी पुरुषार्थकी सिद्धि हो जाती है। नामका माहात्म्य जैसा शिष्ट पुरुषोंने बताया है, वैसा ही है, नामका जप करनेसे ही बहुतसे पुरुष सिद्ध हो गये हैं, यह बात लोकमें और शास्त्रमें प्रसिद्ध है। सारांश यह है कि अपनी योग्यता और बुद्धिके अनुसार जैसे बने वैसे ईश्वरका भजन कर सुखी हो जा ! शान्त हो जा !!

यदि तू कहे कि कर्म करनेसे तो बन्धन होता है, फिर मैं कर्म करके बन्धनमें क्यों पड़ूँ ? तो यह बात नहीं है, प्रथम तो आत्मा अक्रिय है, आत्माके अज्ञानसे देहमें आत्मत्वका अभिमान होता है यानी मैं देह ही हूँ, ऐसा अध्यास होता है, इसलिए देहके कर्ता, भोक्ता आदि धर्मोंको अज्ञानी मनुष्य अपनेमें मानता है। अपने माननेसे उसको बन्धन होता है। बात यह है कि अज्ञान यानी विपरीत ज्ञान ही बन्धनका कारण है, कर्म बन्धनका कारण नहीं है, यदि यह बात समझमें नहीं आती हो, तो 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस श्रुतिके अनुसार और 'करुष्व मदर्पणम्' इस भगवान्के वचनानुसार ईश्वरकी प्रीतिके लिए अपना धर्म समझकर कर्म कर। जैसे वृक्षका मूल सींचनेसे समस्त वृक्ष हरा हो जाता है, वैसे ही ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करनेसे देवता, पितर, ऋषि आदि सब तृप्त हो जाते हैं। इनके तृप्त होनेसे साधकका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरणवालेको सदसत्का विवेक हो जाता है। विवेक होनेसे संसारसे और संसारके स्त्री, पुत्र आदि साधनोंसे

वैराग्य हो जाता है। वैराग्यके होते ही जैसे रोगीको निरोग होनेसे भूख लगती है, इसी प्रकार साधकको ईश्वर-भजनकी भूख लगती है। ईश्वर कहीं दूर तो है ही नहीं, सबके हृदयकमलमें विराजमान है। भजन करनेसे जैसे दो लकड़ियोंकी रगड़से अग्नि प्रकट हो जाती है, वैसे ही हृदयकमलमेंसे ईश्वर हृदयेश प्रकट हो आता है। हृदयेशके प्रकट होनेसे साधकको ऐसे आनन्दका अनुभव होता है कि फिर वह नित्य निरन्तर उसीका अनुसन्धान करता है, अन्य किसीका अनुसन्धान नहीं करता। भला जो आनन्दके सागरमें मग्न हो, उसे दुःखमें डूबना कभी अच्छा लगेगा? नहीं लगेगा। जब तक इस आनन्दका अनुभव न हो, तब तक ईश्वरार्पण बुद्धिसे कर्म करता हुआ सुखी हो जा! शान्त हो जा!!

जब तक अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता, तब तक जैसे मैले दर्पणमें मुख नहीं दीखता, वैसे ही न तो सविशेष ब्रह्मका ज्ञान हो सकता है और न निर्विशेष ब्रह्मका। जाने बिना दोनोंमें से किसीकी भी भक्ति नहीं हो सकती। किसीने सच कहा है कि मलिन अन्तःकरणवालेको सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्म दोनोंमें से किसीकी भी भक्ति होना कठिन ही नहीं किन्तु असंभव है। जब पूर्वोक्त साधनोंमें मंसाराम ( मन ) शुद्ध हो जाय, तो प्रेमसे सगुण ब्रह्मकी भक्ति कर यानी सगुण ईश्वर और ईश्वरावतारोंके गुणोंका गान कर। अपने भक्तोंको अपना अगम तत्त्व बतानेके लिए ईश्वर अवतार लेता है, जैसा कि भागवतमें कहा है—'दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनोः' यानी अपने दुर्विज्ञेय तत्त्वको बतलानेके लिए आप शरीर धारण करते हैं। ईश्वरावतारोंके चरित्र पढ़नेसे सगुण और निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान होता है। इसलिए उनके चरित्रोंका प्रेमसे गान किया कर। कारण और कार्यका अभेद होता है, जैसे कि सुवर्ण और कुण्डलका अभेद लोकमें प्रसिद्ध है, इसी प्रकार ब्रह्मसे उत्पन्न हुए जगत्का ब्रह्मसे अभेद है, श्रुति भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कहती है। विशेषसे उत्पन्न हुआ जगत् विशेषरूप ही है, सबको विशेषरूप देखना, यही सगुण ब्रह्मकी भक्ति है। गीतामें भगवान् कहते हैं—'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' यानी जो सब भूतोंमें समभावसे देखता है, वह मेरी परा भक्तिको प्राप्त होता है। न किसीसे राग कर, न किसीसे द्वेष कर, सब भूतोंमें सम जनार्दनको देख। जैसे तुझे अनुकूलसे सुख, प्रतिकूलसे दुःख होता है, वैसे ही सबको

होता है । मनसे, वाणीसे, कायासे किसीको पीड़ा मत दे, मनसे सबकी भलाई कर, वाणीसे हित मधुर बोला कर, शरीरसे किसीको कष्ट मत पहुँचा । सर्वेश्वरका भक्त होकर सुखी हो जा ! शान्त हो जा !!

जब तू यहाँ आया था, तब मुट्ठी बाँधे आया था, हाथ पसारे हुए जायगा, न कुछ लाया था, न ले जायगा, तब वृथा ही किसी वस्तुके ऊपर अपना अधिकार क्यों जमाता है, दूसरेकी उत्तम वस्तु देखकर क्यों मन ललचाता है, 'जिसने दिया उसने पाया' इस न्यायके अनुसार जो तुझे मिला है, उसीमें संतुष्ट रहकर आनन्दसे देहयात्रा कर । न विद्या, धनादिका मान कर, न कुलका अभिमान कर, सब एक शिलके बट्टे हैं, सब बराबर ही हैं, सब मधुसूदनके रूप हैं, न कोई शत्रु है और न कोई मित्र है, सब जगत्‌रूप सरायमें परदेशीके समान चार दिनके मेहमान हैं, न किसीसे मित्रता कर और न किसी शत्रुता कर, सबको अपने समान प्यार कर। किसीसे सम्मान पानेकी इच्छा मत कर, सबको सम्मान दे । सबको अपना ही समझ । छोटोंको बाल-गोपाल, यशोदानन्दन, कौशल्यानन्द-वर्धन जान । किसीने सच कहा है कि जो अपने पुत्रसमान सबके पुत्रोंको प्यार करता है, उसको पुत्रके मरनेका शोक नहीं होता । 'देनेको टुकड़ा भला, लेनेको हरिनाम' इस न्यायके अनुसार श्वास-श्वासपर हरि पापहारीका नाम लिया कर, देनेको तेरे पास टुकड़ा हो, तो भूखेको, अधिकारीको दे दिया कर । बिना मूल्यके कोई वस्तु नहीं मिलती; बिना मूल्य दिये किसीकी वस्तु न लिया कर । यदि तुझे विश्वनाथने धन आदि दिया है, तो जी खोल कर उदार बनकर अधिकारी पात्रोंको धनका, वस्त्रका, सुवर्णका और विद्याका दान दिया कर । लोकमें अन्नदान सबसे श्रेष्ठ माना गया है । विद्याका दान उससे भी उत्तम माना गया है । ब्रह्मविद्याका दान सर्वोत्तम दान है । सब ही दान उत्तम हैं, फिर भी जो अपनेसे हो सके, वही दान उत्तम है । यथाशक्ति दान दिया कर । किसीसे लेने अथवा मांगनेका स्वप्नमें भी विचार मत किया कर । यदि कुछ भी न कर सके, तो भी मीठी बाणीसे तो प्रत्येकका सत्कार अवश्य ही किया कर, कहा भी है कि पानीसे क्या पतला, मीठी बाणी बोलनेमें खर्च कुछ नहीं होता और शत्रु तक वश हो जाते हैं । रोता हुआ आया था, सबके साथ प्रीतिका व्यवहार करता हुआ, सबको रोता छोड़कर आप हँसता हुआ चला जा ! सुखी हो जा ! शान्त हो जा !!

जैसे पुण्यके क्षीण होनेपर इस लोकमें आयु समाप्त हो जाती है, वैसे ही पुण्यक्षीण होनेपर, इच्छा न होते हुए भी, अनुशयी जीव स्वर्गसे गिरा दिया जाता है, ऐसा सुननेसे तुझे इस लोक और परलोकके क्षणस्थायी भोगोंमें वैराग्य हो गया हो, तो 'सर्वं संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' (सबको छोड़कर श्रवण करे), 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (सब धर्मोंको छोड़कर मेरे शरणमें जा ) इन श्रुति और स्मृतियोंके अनुसार सबको छोड़कर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अकामहत, शान्त सद्गुरुकी शरणमें जाकर महावाक्यका अर्थ श्रवण करके ब्रह्मात्मतत्त्वको जानकर श्रुतिके अनुकूल तर्कोंसे उसका मनन कर और उसीके अनुसन्धानमें नित्य निरन्तर तत्पर रहकर ब्रह्मात्मतत्त्वका साक्षात्कार करके उसीमें बुद्धिकी वृत्ति जोड़ दे, उसीको आत्मा जान और उसीके परायण हो जा। भाव यह है कि प्रथम तो बुद्धिकी वृत्तिको ब्रह्माकार करनेका नित्य निरन्तर अभ्यास कर, पश्चात् बुद्धिकी वृत्तिका बाध करके अद्वितीय आत्मा ही है, अन्य नहीं है। उसीमें स्थित होकर उसीके परायण हो जा। यही परमगति है, अन्य गति नहीं है, अन्य जानने योग्य नहीं है, इसीका अनुसन्धान करता हुआ और जीवन्मुक्तिके सुखका अनुभव करता हुआ विचर। इसको वेदवेत्ता ब्रह्मनिष्ठा कहते हैं। यह ब्रह्मनिष्ठा सकाम कर्मसे पुरुषको प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि अनन्य चित्तताका नाम ब्रह्मनिष्ठा है। कर्मीका चित्त अनन्य नहीं हो सकता, इसलिए व्यवहारी मनुष्य ब्रह्मनिष्ठाका अधिकारी नहीं है। कर्मत्यागी ही ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त करता है और कर सकता है, कर्मी नहीं कर सकता। इसलिए यदि तुझे कैवल्य पदकी तीव्र इच्छा है, तो नित्य निरन्तर ब्रह्मनिष्ठ होकर सुखी हो जा! शान्त हो जा!!

भोला! सुनता है या नहीं? कान देकर सुन ले, सुनता हुआ भी बहिरा मत बन जा। धीर पुरुष जो कुछ सुनते हैं, याद रखते हैं, भूलते नहीं हैं और सुने हुएका अनुकरण करते हैं, यह नहीं कि इस कानसे सुना, इस कानसे निकाल दिया। उपदेशक बहुतसे हैं, उपदेश लेनेवाला कोई विरला माईका लाल ही होता है, दूसरोंको उपदेश मत दे, दूसरोंको उपदेश देनेसे कुछ लाभ नहीं है, प्रत्युत हानि ही है; इसलिए उपदेश देना छोड़ दे। उपदेश लेना सुन्दर मार्ग है, उपदेश लिया कर, उपदेशका अनुकरण किया कर। सुनते हैं कि पूर्वके शुद्ध बुद्धिवाले चतुर पुरुष मूर्खोंसे उपदेश लेकर तारण-तरण बन गये हैं, क्या तूने नहीं सुना कि एक अवधूत कपोत, गणिका, क्रौंचपक्षी आदिसे उपदेश लेकर परम सिद्धिको

प्राप्त हो चुका है। यदि कहे कि यह अवधूत तो अत्रि-अनुसूयानन्दन दत्तात्रेय थे, तो ऐसा ही हो, आम खाने हैं या पेड़ गिनने हैं ! तुझे तो उपदेश लेना है, दत्तात्रेयको ही गुरु बना ले, उन्हींके पैर पकड़ ले। यदि कहे कि वे हैं कहां, जो उनके पैर पकड़े जायँ, तो यह बात नहीं है, इनका अनुकरण करना ही उनके चरण पकड़ना है। विलैया दण्डवत्का नाम पैर पकड़ना नहीं है। बस, तू तो उन्हींका अनुकरण कर। देहकी ममता और अहंता छोड़ दे। केवल इसे दाना-चारा दिये जा और इससे अपना काम लिये जा। यदि पूछे कि काम क्या लूँ, तो आत्मानुसन्धान ही काम है, आत्मानुसन्धान करता हुआ सुखी हो जा ! शान्त हो जा !! दैवयोगसे बीचमें देहानुसन्धान आ जाय, तो नीचेका छन्द गा लिया कर !

छन्द—हो जा सुखी, हो शान्त जा, शिव शान्तका धर ध्यान रे ! ।
सबमें उसीको देख रे, दे सर्वको सम्मान रे ! ॥
भोला ! कटक है कनक ही, मत भेद रंचक मान रे ! ।
जो विश्वसे विश्वेश है, तज भेद, भज कल्याण रे ! ॥

---

## विनय

*मोपर होहु सदय अब माय।*
*अम्ब तुम बिन को कपूतहिं क्षमा कर अपनाय ॥*
*अवश हौं अति नीच पै करि आश आयो धाय।*
*हाथ तुम्हरेहि मातु सब कुछ बात देहु बनाय ॥*
*हौं क्षमा नहिं योग्य यदपाहिं पै कहौं सत भाय।*
*कोटकनु अपराध सुतके मातु देत भुलाय ॥*
*होत पूत कपूत पै नहिं होय माय कुमाय।*
*तुमहुँ त्यागो मातु तो फिर को जो धीर धराय ॥*
*मैं सकल दिशि हेरि हारो और कोउ न लखाय।*
*जननि तुम बिनु जीव पामर प्रभुकृपा नहिं पाय ॥*
*नेक कृपा कटाक्ष हेरो बात सब बनि जाय।*
*'दास हरि' को करकमल गहि मातु लेहु बचाय ॥*

*'दास हरि'*

# अद्वैततत्त्वकी उपपत्ति

(*लेखक—पण्डित श्रीमायारामजी महाराज, वेदान्ततीर्थ, जामनगर*)

अनेक प्रकारके दुःखोंसे भरे हुए संसारमें प्राक्तन सत्कर्मोंके प्रभावसे किसीको साधनचतुष्टयसम्पत्तिके अनन्तर यह जिज्ञासा होती है कि मुझे आत्मतत्त्व-विज्ञान हो। इस प्रकारकी अभिलाषा करके अत्यन्त नम्र होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास यथाविधि जाता है।

अधिकारी शिष्यको पाकर वे परम दयालु ब्रह्मनिष्ठ आचार्य विविध उपपत्तियों द्वारा अध्यारोपापवाद-न्यायसे * शिष्यको उस अद्वय ब्रह्मका उपदेश देते हैं, जो कि अनेक श्रुतियोंसे बोधित है। सत्त्वादिगुणत्रयव्यपाश्रय मायासे उपहित ईश्वरके सङ्कल्पानुसार तत्-तत् गुणोंके गुणप्रधानभावसे अपञ्चीकृत शब्दादितन्मात्रा, महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति हुई। और एक ही ब्रह्म विशेषोपाधिके सम्बन्धसे 'विराट्रूपमें ईश्वर और हिरण्यगर्भ एवं व्यष्टिरूपमें प्राज्ञ, तैजस और विश्वरूप हो जाता है अर्थात् जो सच्चिदानन्द-रूप ब्रह्म है, वही मायाके सम्बन्धसे अनेकरूप हो जाता है। वेदान्तसिद्धान्तमें माया अनादि अनिवर्चनीय और भावरूप ही मानी गई है और यही वास्तविक पक्ष है। वह माया ब्रह्ममें अध्यस्त है। अविद्याध्यास अनादि है और अविद्याके कार्य आकाशादिका अध्यास सादि है। इसी सादि अध्यासको कार्याध्यास कहते हैं। यह कार्याध्यास अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यासके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें अर्थाध्यास इस प्रकार होता है—चक्षु आदि द्वारा विनिःसृत अन्तःकरणकी वृत्ति मन्दान्धकारसे आवृत देशमें रहनेवाले रज्जु आदि पदार्थोंके आकारमें परिणत न होकर रज्वाद्यवच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाली तमःप्रधान अविद्याको क्षुभित करती है, वृत्ति द्वारा क्षुब्ध हुई वही अविद्या सर्पादिरूप अर्थके आकारमें परिणत हो

---

* वस्तुमें अवस्तुकी प्रतीतिको अध्यारोप कहते हैं। जैसे रज्जुमें या रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्यमें सर्पकी प्रतीति होती है। वैसे ही सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्ममें अविद्या और उसके कार्य आकाश आदिका प्रतीत होना ही अध्यारोप है। इसीलिए श्रुति भी कहती है—'मायाभासेन जीवेशौ करोति'। अधिष्ठानमें प्रतीयमान वस्तुका निषेध अपवाद कहलाता है, जैसे शुक्तिमें या शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यमें रज्जुका निषेध करना।

जाती है, इसीको अर्थात् रज्ज्वाद्यवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ तमःप्रधान अविद्याके परिणामभूत प्रतीयमान सर्पादिको अर्थाध्यास कहते हैं। और अध्यस्त पदार्थका अवगाहन करनेवाला 'अयं सर्पः' (यह सर्प है) इत्याकारक ज्ञानरूप जो परिणाम है, उसको ज्ञानाध्यास कहते हैं। यह ज्ञानाध्यास साक्षीरूप चैतन्यमें रहनेवाली सत्त्वप्रधान अविद्याका परिणाम है।

अधिष्ठानज्ञानके अनन्तर अध्यस्त पदार्थोंकी निवृत्ति हो जाती है। यह निवृत्ति अधिष्ठानसे भिन्न नहीं है, किन्तु अधिष्ठानरूप ही है; कारण कि अभाव अधिकरणात्मक है। जैसे रज्जु आदिके ज्ञानसे उसमें आरोपित सर्पादिकी निवृत्ति हो जाती है, वैसे ही सर्पविषयक ज्ञानाध्यासकी भी निवृत्ति हो जाती है।

यद्यपि इस विषयमें यह शङ्का हो सकती है कि सर्पादिके अध्यासका अधिष्ठान रज्ज्वाद्यवच्छिन्न बाह्य चैतन्य है और ज्ञानाध्यासका अधिष्ठान साक्षीरूप चैतन्य है, ऐसी अवस्थामें रज्ज्वादिसे अवच्छिन्न चैतन्यके ज्ञानसे कार्याध्यासकी तो निवृत्ति हो सकती है, परन्तु ज्ञानाध्यासकी उससे निवृत्ति कैसे होगी, क्योंकि सर्पाध्यासके अधिष्ठानभूत रज्ज्वाद्यवच्छिन्न चैतन्यके ज्ञानकालमें ज्ञानाध्यासाधिष्ठानभूत साक्षीरूप चैतन्यका ज्ञान नहीं होता है। यद्यपि अध्यासकी निवृत्तिके लिए उसके अधिष्ठानका ज्ञान होना आवश्यक है; तथापि भली भाँति विचार करनेसे यह शङ्का निवृत्त हो जाती है, कारण कि अन्तःकरणकी वृत्ति चक्षुरादि द्वारा रज्ज्वादि देशमें जाकर रज्ज्वाद्यवच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाले आवरणका नाश करती है। और उक्त अन्तःकरणकी वृत्ति साक्षिचैतन्यसे अवच्छिन्न है। उसके रज्जुप्रदेशमें जानेसे वृत्ति और रज्जु दोनों उपाधियाँ समानदेशस्थ हुई। उपाधियोंके समानदेशस्थ होनेके कारण रज्ज्ववच्छिन्न चैतन्य और वृत्त्युपहित साक्षिचैतन्य दोनोंका अभेद होनेसे अर्थाध्यासका जो अधिष्ठान है, वही ज्ञानाध्यासका और जो ज्ञानाध्यासका अधिष्ठान है, वही अर्थाध्यासका अधिष्ठान निश्चित हुआ। अतः साक्षीरूप स्वयंप्रकाश चैतन्यके ज्ञानसे उक्त दोनों अध्यासोंकी निवृत्ति होनेमें कोई सन्देह नहीं रहा, अतः उक्त पूर्वपक्ष व्यर्थ है।

इसी कार्याध्यासका लक्षण भगवत्पाद श्रीशङ्कराचार्यजीने इस प्रकार किया है—'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' अर्थात् पूर्वदृष्ट पदार्थका जो अन्य स्थलमें स्मरणरूप अवभास होता है, उसे अध्यास कहते हैं। सादि और अनादिसाधारण अध्यासका लक्षण यह है—'परत्र पूर्वदृष्टावभासः' अर्थात् पूर्वोक्त कार्याध्यासके लक्षणमें से

'स्मृतिरूप' शब्दके हटा देनेसे ब्रह्मनिष्ठ अनादि अविद्याध्यासमें भी लक्षण समन्वय हो सकता है। इस विषयमें मधुसूदनसरस्वती प्रभृति यतियोंकी भी सम्मति है।

सामान्यरूपसे दो प्रकारका कार्याध्यास धर्माध्यास, धर्मविशिष्टधर्म्यध्यास, सम्बन्धाध्यास, सम्बन्धविशिष्टसम्बन्ध्यध्यास, अन्यतराध्यास आदि भेदसे अनेक प्रकारका होता है।

अब ध्यानमें यह रखना चाहिए कि जैसे रज्जुमें सर्प, शुक्तिमें रजत, ऊषर भूमिमें मृगजल आदि कल्पित हैं और उन सब कल्पित वस्तुओंका अधिष्ठानके ज्ञानसे बाध होता है अर्थात् अध्यस्त वस्तुका बाध—अपवाद—होनेसे केवल अधिष्ठानमात्र अवशिष्ट रह जाता है, वैसे ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध ब्रह्ममें ही ईश्वर, तन्निर्मित संसार, जीव और जीवकल्पित व्यष्टिसमष्टिरूप कार्यजात कल्पित है। अतः उक्त समस्त प्रपञ्चका अधिष्ठान ठहरा ब्रह्म। इसी प्रकार साक्षीरूप चैतन्य भी कल्पित प्रपञ्चका अधिष्ठान हो सकता है, क्योंकि श्रुतिमें साक्षी चैतन्यका ब्रह्मसे अभेद वर्णित है। जब सर्वसन्तापहारक सद्गुरु अपने परम अनुग्रहसे तथोक्त जिज्ञासु शिष्यको 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके उपदेश द्वारा शुद्ध ब्रह्मका परिज्ञान कराते हैं, तब सभी कल्पित पदार्थोंका अपने-आप बाध हो जाता है और वह आनन्दात्मक परिपूर्ण अद्वितीय ब्रह्मको प्राप्त होता है।

इस विषयमें भेदवादी शङ्का करते हैं कि 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्योंसे जीव और ईश्वरका अभेद सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जीव और ईश्वर दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध धर्मवाले हैं। विरुद्ध धर्मवाले पदार्थोंका किसी प्रकारसे भी अभेद नहीं हो सकता। विरुद्ध धर्मवाले ( शीत और उष्णरूप विरुद्ध धर्मोंसे आक्रान्त ) जल और तेजका अभेद सिद्ध करना जैसे उपहासास्पद है, ठीक वैसे ही जीव और ईश्वरका अभेद सिद्ध करना भी उपहासास्पद है, क्योंकि ईश्वर सर्व शक्तिमान् एवं सर्वज्ञ है और जीव अल्पशक्ति एवं असर्वज्ञ है। श्रुति भी 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादिसे ईश्वरको सर्वज्ञ और 'अनीहया शोचति मुह्यमानः' इत्यादिसे जीवको शोकादिसे आक्रान्त कहती है। इसी प्रकार 'द्वा सुपर्णा', 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यादि श्रुतियाँ भी स्पष्टरूपसे जीव और ईश्वरके भेदका प्रतिपादन करती हैं।

किंबहुना 'मैं ईश्वर नहीं हूँ, किन्तु जीव हूँ' इस प्रकारके प्रबल प्रत्यक्ष

प्रमाणसे भी जीव और ईश्वरका भेद ही सिद्ध होता है, अतः अद्वैत ब्रह्मकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

परन्तु भेदवादियोंकी इस प्रकारकी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंमें त्यागभागलक्षणा माननेसे 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादिके समान लक्ष्यार्थका अभेद सिद्ध ही होता है और सम्पूर्ण श्रुतियोंका लक्ष्यार्थबोधन द्वारा जीवब्रह्मके अभेदमें ही तात्पर्य है, क्योंकि 'सर्वं मयि प्रकल्पितम्' इत्यादि श्रुति सर्वज्ञ सर्वशक्तिविशिष्ट महावाक्यके लक्ष्यार्थभूत ईश्वररूप साक्षीका ही सब प्रपञ्चके अधिष्ठानरूपसे प्रतिपादन करती है; क्योंकि यह सब प्रपञ्च साक्षीरूप मुझमें ही कल्पित है, यह उक्त श्रुतिका अर्थ है। यदि जीव और ईश्वरका अभेद न माना जाय, तो जीवसाक्षीमें सर्वप्रपञ्चाधिष्ठानत्वकी उपपत्ति कैसे हो सकेगी। यद्यपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि श्रुतिमें अहंपदवाच्य जीव और ब्रह्मपदवाच्य ईश्वरका, जो कि क्रमशः अल्पज्ञ और सर्वज्ञ हैं, अभेद नहीं बन सकता है, तथापि अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली विविध श्रुतियोंके आधारपर उनके अभेदमें लक्षणा मानना आवश्यक है।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध हुआ कि जो ब्रह्म सम्पूर्ण जगत्का अधिष्ठान है, वही साक्षीरूप प्रत्यगात्मा है।

'मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥'

(अर्थात् साक्षीरूप मुझमें सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही उसकी स्थिति है और मुझमें उसका लय भी होता है एवं सर्वाधिष्ठान ब्रह्म भी मैं ही हूँ) इस प्रकारकी श्रुति भी सम्पूर्ण प्रपञ्चको प्रत्यगात्मामें अध्यस्त दिखाकर प्रत्यगात्माको ब्रह्मसे अभिन्न कहती है।

इसलिए 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्योंसे जीव और ब्रह्मका अभेद ही सिद्ध होता है। अध्यस्त होनेके कारण प्रपञ्च मिथ्या है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो जैसे शुक्तिमें प्रतीयमान रजतकी अधिष्ठानभूत शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यकी सत्तासे पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती है, वैसे ही प्रपञ्चकी अधिष्ठानसत्तासे पृथक् सत्ता नहीं है।

यदि सूक्ष्मरूपसे विचार किया जाय, तो भेदनामका वास्तविक पदार्थ ही सिद्ध

नहीं हो सकता है, जिससे कि भेदवादका अङ्गीकार किया जाय। जो लोग 'नाहं ब्रह्म, किन्तु जीवः' ( अर्थात् मैं ईश्वर नहीं हूँ, किन्तु जीव हूँ ) इस प्रकारकी प्रत्यक्ष प्रतीतिको भेदकी साधिका मानते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इस प्रतीतिसे क्या अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यमें याने जीवमें ब्रह्मका भेद सिद्ध होता है ? अथवा शुद्ध आत्मामें जीवका भेद सिद्ध होता है। इनमें प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यमें (जीवमें) काल्पनिक भेद तो अद्वैत-वादी भी मानते हैं और यदि द्वितीय पक्षका अवलम्बन किया जाय, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि शुद्ध आत्माके अतीन्द्रिय होनेसे वह चक्षु आदि इन्द्रियोंका विषय नहीं हो सकता, अतः जीवप्रतियोगिकब्रह्मानुयोगिक भेदका प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता है अर्थात् किसी भी प्रकारसे ब्रह्माश्रित भेदका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, कारण कि प्रतियोगी अथवा अनुयोगीका जब तक प्रत्यक्ष न हो तब तक तत्प्रतियोगिक तदनुयोगिक भेदका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, यह अकाट्य नियम है। 'घटो न पटः' (जो घट है, वह पट नहीं है) इस स्थलमें घट प्रतियोगी है और पट अनुयोगी है, अतः पटमें ( वस्त्रमें ) रहनेवाले घटके भेदको घट-प्रतियोगिकपटानुयोगिक कहते हैं। भेदप्रत्यक्षके पूर्वमें घट तथा पटका अवश्य प्रत्यक्ष होना चाहिए, जब उनका प्रत्यक्ष होगा, तभी घटप्रतियोगिकपटानुयोगिक भेदका प्रत्यक्ष होगा, अन्यथा नहीं।

इसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रतीतिसे जो शुद्ध ब्रह्ममें जीवात्माका भेद मानते हैं, उस भेदका जीवात्मा प्रतियोगी और शुद्ध आत्मा अनुयोगी होगा। इससे प्रति-योगी और अनुयोगीका ( जीव और शुद्ध आत्माका) प्रत्यक्ष न होनेके कारण उक्त भेदका प्रत्यक्ष होना सर्वथा असम्भव है।

यदि भेदवादी शङ्का करें कि जब आत्मा और मनके संयोगसे जीवका प्रत्यक्ष होता है, तब यह कैसे कह सकते हैं कि 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इसमें जीवात्मारूप प्रतियोगीका प्रत्यक्ष नहीं है। किञ्च, मनको नैयायिक प्रभृति इन्द्रिय मानते हैं, इसलिए मनसे प्रत्यक्ष होनेवाले जीवात्माको अतीन्द्रिय भी नहीं कह सकते ? ऐसी अवस्थामें जीव और ईश्वरका भेद प्रत्यक्षसे सिद्ध हो सकता है, तो यह भेदवादियोंकी शङ्का केवल मायामात्र है, क्योंकि नैयायिक आदिने भेदके प्रत्यक्षमें अनुयोगीके प्रत्यक्ष ज्ञानको ही कारण माना है, इसलिए उक्त दिशासे प्रतियोगीका प्रत्यक्ष होनेपर भी अनुयोगीभूत शुद्ध आत्माका प्रत्यक्ष न होनेके

कारण जीवप्रतियोगिकब्रह्मानुयोगिक भेद 'नाहं ब्रह्म किन्तु जीवः' इस प्रतीतिसे सिद्ध नहीं हो सकेगा।

अपि च यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है कि भेदप्रत्यक्षके प्रति अनुयोगीका प्रत्यक्ष ही कारण है, प्रतियोगीका प्रत्यक्ष कारण नहीं है। यदि प्रतियोगीका प्रत्यक्ष ही भेदप्रत्यक्षके प्रति कारण माना जाय, तो 'पिशाचो न स्तम्भः' (पिशाच स्तम्भ नहीं है) इस प्रकार स्तम्भमें जो पिशाचके भेदका प्रत्यक्ष होता है, वह न होगा, क्योंकि प्रतियोगीभूत पिशाचका प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए जीवरूप प्रतियोगी-का प्रत्यक्ष होनेपर भी शुद्ध आत्मामें उसके भेदका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि लोकमें जिस भेदका अनुभव होता है, उसकी काल्पनिक स्थिति न मानकर भेदवादी यदि सत्यरूपसे उसकी स्थिति मानता हो, तो उससे पूछना चाहिए कि तुम्हारा अभिमत सत्यस्वरूप भेद अभिन्न धर्मीमें रहता है या भिन्न धर्मीमें रहता है? यदि वादी पहले पक्षका (अभिन्न धर्मीमें भेद रहता है, इस पक्षका) अङ्गीकार करे, तो उसको व्याघात दोषका सामना करना पड़ेगा। परस्पर विरुद्ध धर्मोंका एक अधिकरणमें रहना व्याघात कहलाता है, जैसे कि जिस स्थलमें भेद रहता है, उस स्थलमें अभेद नहीं रह सकता और जहां अभेद रहता है, वहाँ भेद नहीं रह सकता, इसलिए अभेद भेदसे अलग रहता है और भेद तथा अभेद ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। इस परिस्थितिमें वादी यदि भेदको अभिन्न धर्मीमें मानेगा, तो भिन्नत्व और अभिन्नत्वरूप विरुद्ध धर्मोंका एक अधिकरणमें समुच्चय माननेसे व्याघात दोष आ ही जायगा। और दूसरा यह भी दोष प्राप्त होगा कि भेदरहित वस्तुमें भेदका प्रत्यक्ष होनेसे अभिन्न धर्मीमें भेदज्ञान भ्रमात्मक होगा।

यदि वादी द्वितीय पक्षका अर्थात् भिन्न धर्मीमें भेदका प्रत्यक्ष होता है, इस पक्षका अनुसरण करे, तो इसमें भी प्रश्न करना चाहिए कि यह भेद अपनेसे भिन्न किये हुए धर्मीमें स्वयं रहता है अर्थात् वह भेद स्वयं धर्मीका भेद बनकर धर्मीमें रहता है अथवा किसी दूसरे भेदसे भिन्न किये गये धर्मीमें रहता है? वादी यदि इन पक्षोंमें से प्रथम पक्षका अङ्गीकार करे, तो आत्माश्रय दोष होगा।

अपनी उत्पत्तिमें, अपनी स्थितिमें अथवा अपने ज्ञानमें यदि अपनी अपेक्षा हो, तो आत्माश्रय दोष होता है। प्रकृतमें भिन्न धर्मी जिस भेदसे विशिष्ट है, उसमें उसी भेदकी यदि अवस्थिति मानी जाय, तो अपनी अपेक्षा और आप ही भेदक होता

है, इसलिए आत्माश्रय स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है, अतः यह नहीं मान सकते हैं—जिस भेदको लेकर धर्मी भिन्न होता है, उसी भेदका उसमें प्रत्यक्ष हो सकता है।

इस आत्माश्रयके परिहारके लिए यदि वादी दूसरे किसी भेदको भेदक मानकर उसीसे भिन्न हुए धर्मीमें प्रथम भेदको माने, तो वादीसे पूछना चाहिए कि वह दूसरा भेद भी भेदरहित धर्मीमें रहता है अर्थात् अभिन्न धर्मीमें रहता है, या भिन्न धर्मीमें रहता है ? इन दोनोंमें से यदि प्रथम कल्पका वादी आश्रयण करे, तो पहलेके समान व्याघात दोष प्रसक्त होगा। यदि भेदविशिष्ट धर्मीमें भेद रहता है, इस द्वितीय कल्पका आश्रयण करे, तो भी वादीसे पूछना चाहिए कि वह दूसरा भेद भी अपने आपसे भिन्न किये गये धर्मीमें रहता है अर्थात् रहनेवाला भेद स्वयं उस धर्मीका भेदक बनकर उस धर्मीमें रहता है अथवा प्रथम भेदसे भिन्न किये गये धर्मीमें द्वितीय भेद किसी तृतीय भेदसे भिन्न किये गये धर्मीमें रहता है अर्थात् तृतीय भेद जिसका भेदक है, ऐसे धर्मीमें द्वितीय भेद रहता है ? यदि वादी दूसरे भेदको स्वधर्मीका भेदक मानकर द्वितीय भेद रहता है, ऐसा माने, तो पहलेके समान आत्माश्रय दोष प्राप्त होगा। यदि प्रथम भेद द्वितीय भेदका भेदक है, यह माने, तो अन्योन्याश्रय दोष प्राप्त होगा। अपनी-अपनी स्थितिमें या अपने-अपने ज्ञानमें दो पदार्थोंकी परस्पर जहाँ अपेक्षा हो, वहां अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। प्रकृतमें प्रथम भेदको अपनी स्थितिके लिए दूसरे भेदकी अपेक्षा है और दूसरे भेदको अपनी स्थितिके लिए प्रथम भेदकी अपेक्षा है, अतः अवश्य अन्योऽन्याश्रय हो सकता है। वादी इस अन्योऽन्याश्रय दोषके परिहारके लिए यदि तृतीय पक्षको अर्थात् द्वितीय भेदके धर्मीका भेदक कोई तीसरा भेद है, ऐसा मान ले, तो उस वादीसे पूर्ववत् पूछना चाहिए कि वह तीसरा भेद अभिन्न धर्मीमें रहता है ? या भिन्न धर्मीमें रहता है ? यदि वादी प्रथम पक्षका आश्रयण करे, तो पहलेके समान व्याघात दोष होगा, यदि द्वितीय पक्षका अनुसरण करे, तो फिर उससे पूछना चाहिए कि वह तीसरा भेद भी अपनेसे भिन्न किए हुए धर्मीमें रहता है अर्थात् वह तीसरा भेद स्वधर्मीका भेदक बनकर उस धर्मीमें रहता है अथवा दूसरे भेदसे भिन्न किये गये धर्मीमें वह तीसरा भेद रहता है या प्रथम भेदसे भिन्न किये गये धर्मीमें वह भेद रहता है अथवा किसी चतुर्थ भेदसे भिन्न किये गये धर्मीमें तृतीय भेद रहता है ?

इन विकल्पोंमें से वादी प्रथम कल्पका आश्रयण नहीं कर सकता है, क्योंकि पूर्ववत् आत्माश्रय दोष प्राप्त होगा। यदि दूसरे पक्षका आश्रयण करे, तो अन्योऽन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा। यदि तृतीय पक्षका अनुसरण करे, तो चक्रक दोष प्रसक्त होगा, क्योंकि प्रथम भेद द्वितीय भेदकी अपेक्षा करता है, द्वितीय भेद तृतीय भेदकी अपेक्षा करता है और तृतीयादि को प्रथम की अपेक्षा है और प्रथम भेदको द्वितीयकी अपेक्षा है, इस क्रमसे आनेवाले दोषको चक्रक दोष कहते हैं।

प्रकृतमें प्रथम भेदको अपनी स्थितिमें दूसरे भेदकी अपेक्षा है और दूसरे भेदको अपनी स्थितिमें तृतीय भेदकी अपेक्षा है, तृतीयादि भेदको अपनी स्थितिमें प्रथम भेदकी अपेक्षा है और प्रथम भेदको द्वितीयादि भेदकी अपेक्षा है, इसी प्रकार अपनी-अपनी स्थितिके लिए चतुर्थादि भेदोंकी परम्परामें पुनः प्रथम भेदकी अपेक्षा होनेसे एवं प्रथम भेदको द्वितीयादि भेदोंकी अपेक्षा होनेसे चक्रक दोष प्राप्त होता है। इस चक्रक दोषके परिहारके लिए वादी यदि कहे कि चतुर्थ भेदसे भिन्न किये गये धर्मोंमें तृतीय भेद रहता है, तो इस पक्षमें भी अनवस्था दोष ही प्रसक्त होगा, क्योंकि यह चौथा भेद भी पूर्वोक्त व्याघात, आत्माश्रय, अन्योऽन्याश्रय और चक्रक आदि दोषोंकी प्राप्तिके भयसे अभिन्नधर्मोंमें या स्वविशिष्ट धर्मीमें अथवा तृतीयभेदविशिष्ट धर्मीमें अथवा प्रथम भेदविशिष्ट धर्मीमें नहीं रह सकता, किन्तु किसी एक पञ्चमभेदविशिष्ट धर्मीमें रहेगा, इसी प्रकार पञ्चम भेद भी किसी छठे भेदविशिष्ट धर्मीमें रहेगा, इसी प्रकार भेदपरम्परा माननेसे अवस्थानामक दोष आ जायगा, जिसका कभी अन्त होना सम्भव नहीं है।

अतः पूर्वोक्त हेतुओंसे यह सिद्ध हुआ कि भेदपदार्थ कोई वास्तविक पदार्थ ही नहीं है, अतः भगवती श्रुति अभेदसिद्धान्तका ही प्रतिपादन करती है और व्यवहारमें जो भेदकी प्रतीति होती है, वह काल्पनिक ही है—जैसे कि शुक्तिमें रजतकी कल्पना है। अतः अद्वैततत्त्वका बाधक भेद नामका पदार्थ नहीं है, यह निर्विवाद सिद्ध हुआ।

इस अद्वैतभावको पूर्वोक्त गुणसे युक्त जिज्ञासुको जब श्रीसद्गुरुदेव सुनाते हैं, तब वह प्रमाणगत असम्भावनाकी निवृत्तिद्वारा अद्वैतभावको प्राप्त होकर मुक्तिरूप परमानन्दको प्राप्त होता है, भगवती श्रुति भी कहती है—'आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्'।

उस मुक्तिक्षणमें शिष्यको यह भावना होती है—अहं धन्यः ! अहं धन्यः !! अहो गुरुः ! अहो गुरुः !! अहो बोधः ! अहो बोधः !! और अपने गुरुजीका बड़ा उपकार मानकर कृतकृत्य हो जाता है एवं जीवन्मुक्त बन जाता है, क्योंकि ज्ञान हो जानेके अनन्तर आवरण दोष भी निवृत हो जाता है ।

अतः जिसको निरतिशय सुखकी अभिलाषा है, उसे निष्काम कर्मोंके अनुष्ठान द्वारा अपने अन्तःकरणके मल आदिको हटा देना चाहिए और विक्षेपको हटानेके लिए भगवदुपासना करनी चाहिए । जैसा कि कहा है—

निराकारं स्वामिन् जयतु तव रूपं श्रुतिनुत-
महं तु त्वां मन्ये करचरणयुक्तं गुणनिधिम् ।
शिवेशः श्रीशो वा भवतु न भिदा यत्र तमहं ,
नमामि श्रीनाथं भवभयहरं श्रीवटपतिम् ॥*

इस प्रकार हरिहरके अभेदचिन्तनसे अवश्य विक्षेपका परिहार हो जायगा । ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुके उपदेशसे आवरणका विनाश होता है और तद्द्वारा स्वरूपका साक्षात्कार होनेसे जीवन्मुक्तावस्थाकी प्राप्ति होती है ।

जीवन्मुक्त अपने प्राक्तन प्रारब्धान्तकी प्रतीक्षा करता, सम्पूर्ण लोगोंकी शुभकामना करता एवं यत्र-तत्र भ्रमण करता हुआ अन्तमें विदेह कैवल्यको प्राप्त होता है ।

अद्वैतसिद्धान्त परम अगाध है । उसके विषयमें हमारे ऐसे मन्दप्रज्ञ क्या कह सकते हैं ? किन्तु सत्पुरुषोंके उच्छिष्टांशका जो कुछ ग्रहण किया था तदनुकूल लिखा है, अतः इसमें जो त्रुटि हुई हो, वह हमारी है, अद्वैतसिद्धान्तकी नहीं है, क्योंकि अद्वैतसिद्धान्त परममङ्गलमय है । इति शिवम् ।

---

* हे स्वामिन्, श्रुतिद्वारा गाये गये आपके निराकार स्वरूपकी जय हो । मैं तो आपको हस्त, पाद आदिसे युक्त गुणोंका समुद्र मानता हूँ अर्थात् आपके सगुण रूपका उपासक हूँ । वे चाहे शिवजी हों, चाहे विष्णु हों, परन्तु जिसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है ऐसे संसारके भयको हरनेवाले- लक्ष्मीपति श्रीवटपतिको प्रणाम करता हूँ ।

# अद्वैत-दर्शन

( लेखक—पण्डित श्री अमृतलालशास्त्री वेदान्त-व्याकरणतीर्थ, साहित्यार्णव )

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं पुरस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

( श्वेताश्व० ६।७ )

श्रीगुरुचरणद्वन्द्वं वन्देऽहं मथितदुःसहद्वन्द्वम् ।
भ्रान्तिग्रहोपशान्तिं पांसुमयं यस्य भसितमातनुते ॥

( श्रीमच्छङ्कराचार्याः स्वात्मनिरूपणे )

इस संसारमें सभी जीवोंकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका प्रधान उद्देश्य सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति ही है। स्त्री, पुत्र, धन आदिकी प्राप्तिका यत्न भी इसीलिए किया जाता है। सब जीव सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्तिके लिए यथाशक्ति जी तोड़कर प्रयत्न करते हैं। भर्तृहरिने ठीक ही कहा है—

उत्खातं निधिशङ्कया क्षितितलं ध्माता गिरेर्धातवो
निस्तीर्णः सरितां पतिर्नृपतयो यत्नेन संसेविताः ।
मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने निशाः
प्राप्तः काणवराटकोऽपि न मया तृष्णेऽधुना मुञ्च माम् ॥

अर्थात् मैंने सुवर्ण, रत्न आदिकी खानकी आशङ्कासे सारी भूमि खोद डाली, पर्वतके धातु अग्निमें फूंक डाले, समुद्र तैर डाला, प्रयत्न पूर्वक राजाओंकी सेवा की और मन्त्रके आराधनमें तत्पर चित्तसे श्मशानमें अनेक रात्रियाँ बिता डालीं परन्तु एक कानी कौड़ी भी हाथ न लगी। हे तृष्णे! अब तो तू मेरा पिण्ड छोड़।

मनुष्य चाहता है कि मैं सर्वदा सुखी रहूँ, और दुःख कभी न पाऊँ। वह इस उद्देश्यके लिए प्रयत्न करनेमें कुछ भी कोर-कसर नहीं उठा रखता। परन्तु अन्तमें हाथ क्या लगता है—प्रियवियोग और अप्रियसंयोगसे होनेवाला हृदय-परिताप, जीवनयात्रामें अनेक हर्ष, शोक और मोहके प्रसङ्ग, शरीर और मनका अस्वास्थ्य इत्यादि दुःख ही।

इस विषयमें योगसूत्रके व्यासभाष्यमें एक अच्छा संवाद है—

भगवान् जैगीषव्य महायोगीको संस्कारोंके साक्षात्कारके बलसे जन्मपरिणाम-क्रमको देखते विवेकजन्य ज्ञान हुआ। तब निर्माणकायधारी भगवान् आवट्यने उनसे पूछा—भव्य होनेके कारण दस महासर्गोंमें आपकी सात्त्विक बुद्धि रज और तममें आक्रान्त नहीं हुई, अतएव नारकीय और पशुपक्षियोंकी योनियोंके गर्भदुःखका अनुभव कर रहे एवं देवता और मनुष्योंमें पुनः पुनः जन्म ले रहे आपको उनमें सुख और दुःख इन दोनोंमें किसका अधिक अनुभव हुआ। इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् आवट्यसे जैगीषव्य मुनिने कहा—भव्य होनेके कारण दस महासर्गोंमें मेरी सात्त्विक बुद्धिका पराभव नहीं हुआ, अतएव मैंने नरक और तिर्यक् जातियोंके दुःख देखे एवं देव और मनुष्य शरीरोंमें पुनः पुनः जन्म लिया। इनमें मैंने जो कुछ अनुभव किया वह सब दुःखरूप ही मुझे प्रतीत होता है।

मन्दबुद्धि मनुष्य तात्कालिक सुख और दुःख की निवृत्तिसे संतुष्ट हो जाते हैं। आपातरम्य विषयोंमें मुग्ध होकर उन विषयोंकी प्राप्तिके लिए अनेक कष्ट उठाते हैं। सुखमधुकी छोटी-सी कणिकाके वास्ते वे अनेक अनर्थ कर डालते हैं। शास्त्रनिषिद्ध भी आचरण कर बैठते हैं। परिणाममें इस लोक और परलोकमें अनेकानेक दुःख उन्हें भोगने पड़ते हैं।

पूर्वजन्मकी वासनाओंके प्रबल होनेसे विषयेन्द्रियसंयोगजन्य परिणामविरस क्षणिक सुखमें प्रायः प्राणियोंकी बड़ी आसक्ति देख पड़ती है।

'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् †।' इस काठक श्रुतिके अनुसार इन्द्रियोंकी विषयमें प्रवृत्ति नैसर्गिक है। इसी आसक्तिको

---

* अत्रेदमाख्यानं श्रूयते—भगवतो जैगीषव्यस्य संस्कारसाक्षात्करणाद् दशसु महासर्गेषु जन्मपरिणामक्रममनुपश्यतो विवेकजं ज्ञानं प्रादुरासीत्। अथ भगवानावट्यस्तनुधरस्तमुवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्गर्भसम्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमुपलब्धमिति। भगवन्तमावट्यं जैगीषव्य उवाच—दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन मया नरकतिर्यग्भवं दुःखं संपश्यता देवमनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन यत्किञ्चिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव प्रत्यवैमि। (यो० सू० १८ विभूतिपाद)

† ब्रह्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख बनाया, अतएव वे विषयोंको देखती हैं अन्तरात्माको नहीं देख सकतीं।

राग कहते हैं और अपने इष्ट पदार्थकी प्राप्तिमें बाधा डालनेवालेके प्रति जो प्रज्वलनात्मक चित्तवृत्ति होती है उसीको द्वेष कहते हैं। इन राग-द्वेषोंसे ही प्रेरित होकर जीव पुण्य-पापजनक अनेक प्रवृत्तियोंमें फँस कर जन्म, जरा, रोग, शोक, परीताप, बन्धन, मरण आदि अनेक दुःखपरम्परामें गिरते हैं।

लौकिक और शास्त्रीय उपायोंसे अस्थिर सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति होने पर भी आत्यन्तिक ( नित्य ) सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति संसारासक्त जीवको कभी नहीं होती है। विषयी जीवको जो वस्तु सुखरूप प्रतीत होती है, वह भी विवेकीकी दृष्टिसे दुःखरूप ही है। योगसूत्रमें कहा है कि—'परिणामताप-संस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' ( योगसूत्र २।१५ ) सुखभोगकालमें सुखसाधनोंमें राग और दुःखकारणोंमें द्वेष चित्तमें विद्यमान रहता है। इससे पुण्यपापात्मक प्रवृत्ति होनेसे तद्रूप कर्माशय उत्पन्न होता है। यही परिणामदुःखता है। चेतन और अचेतन द्वारा प्राप्त होनेवाले सन्तापके अनुभव-को ताप कहते हैं। सुखानुभवसे सुखसंस्कार और दुःखानुभवसे दुःखसंस्काररूप आशय होते हैं। ये दुःखके हेतु हैं। गुणमय विरोधी चित्तवृत्तियोंका एक कालमें उदय होनेसे कष्टापत्ति होती है, यह गुणवृत्तिविरोधजन्य दुःख है। इसलिए विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें इन्द्रियजन्य विषयभोग सब दुःखरूप ही हैं। इस अनादि दुःखस्रोतको विवेकी पुरुष ही प्रतिकूल देखता है, अतएव उससे उसे उद्वेग होता है। विषयी पुरुषको तो, विषकृमिन्यायसे, उससे उद्वेग होता ही नहीं। कारण कि विवेकी पुरुष नेत्र-गोलकके समान अत्यन्त मृदुचित्त है। जैसे ऊनका तन्तु नेत्रमें लगनेसे स्पर्शजन्य दुःख उत्पन्न करता है, शरीरके इतर अवयवोंमें उसका स्पर्श होनेसे दुःख नहीं होता है; वैसे ही यह संसार विवेकी पुरुषको ही उद्वेगजनक होता है ×। अविवेकी विषयी जीव तो वासनावश होकर दुःखके कारणभूत देहादिमें अहन्ता और ममताको धारण कर त्रिविध ताप सहन करता हुआ निरन्तर संसारचक्रमें भ्रमण करता है। इस विवेचनसे संसारकी दुःखरूपता सिद्ध हुई। और दुःखोंके मूलोच्छेदके बिना उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः इस भीषण संसारचक्रभ्रमणका मूल क्या है? यह

× 'अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान्। यथोर्णातन्तुरक्षिपात्रन्यस्तः स्पर्शेन दुःखयति, न चान्येषु गात्रावयवेषु। एवमेतानि दुःखानि अक्षिपात्रकल्पं योगिनमेव क्लिश्नन्ति नेतरं प्रतिपत्तारम्' ( यो० सू० भाष्य २।१५ )

प्रश्न मुमुक्षुको अवश्य विचारणीय है। इस प्रश्नके उत्तरमें श्रुति, स्मृति, पुराण और सब अध्यात्मदर्शनशास्त्रकार महर्षियोंका ऐकमत्य है। उन सबने एक स्वरसे अविद्याको ही सब अनर्थोंका मूल कहा है। यह निम्न लिखित श्रुत्यादि प्रमाण-वचनोंसे स्पष्ट होता है—

'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः॥'
(काठक)

अर्थात् अविद्याके भीतर रहते हुए अपनेको धीर और पण्डित मानते हुए, अनेक प्रकारकी कुटिल गति को प्राप्त करते हुए, अन्धके अनुयायी अन्धकी नाईं मूढ़ मनुष्य संसारचक्रमें परिभ्रमण करते हैं।

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'
(भगवद्गीता अ० ७, श्लो० १४)

अर्थात् देवी—शुद्धचैतन्यरूप विष्णुदेवकी शक्ति रूप, त्रिगुणात्मक यह मेरी माया दुरत्यया—अति दुस्तर है। जो ज्ञानी भक्तजन मेरी ही शरण में आते हैं, वे ही इस मायको तरते हैं।

'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाऽऽभासो यथा तमः॥'
(श्रीमद्भागवत० स्कं० २ अ० ९ श्लो० ३३)

जिससे वास्तव अर्थ न होनेपर भी अनिर्वचनीय दृश्यकी प्रतीति होती है, और सत्य पदार्थ भी प्रतीत नहीं होता है। वह आत्मस्वरूप मेरी माया है। पदार्थ वास्तवमें न होनेपर भी प्रतीत होता है, इसमें दृष्टान्त—'यथा आभासः' एक चन्द्रमें अनेक चन्द्रका भान। सत्की भी अप्रतीतिमें दृष्टान्त—यथा तमः' जैसा कि राहु ग्रहमण्डलमें स्थित भी नहीं दीख पड़ता है, ग्रहणकालमें ही दीख पड़ता है। यह मायाके कार्य द्वारा मायाका स्वरूपनिर्वचन श्रीभगवान्ने ब्रह्माके प्रति किया है।

अब दर्शनशास्त्रोंमें देखिए। सांख्यशास्त्रसङ्ग्रहरूप ईश्वरकृष्णनिर्मित कारिकामें 'रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः' इस वचनसे

धर्म, अधर्म, अज्ञान, राग, वैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य, इन सात रूपों द्वारा प्रकृति ही बन्धहेतु कही गई है। यहां वैराग्यका फल प्रकृतिलय विवक्षित है, उसमें पुनः संसारकी प्राप्ति होती है, इसलिए वैराग्य भी बन्धहेतु बतलाया गया है।

पातञ्जलयोगसूत्रमें 'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः।' 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।' इन सूत्रोंके द्वारा अविद्याको ही सब अनर्थोंका मूल कहा है। अविद्याके स्वरूपका—'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।' इस सूत्रसे निरूपण किया है। कार्यरूप होनेसे अनित्य पृथिव्यादि भूत और भौतिकोंमें नित्यत्व बुद्धि, तथा अशुचि—परम बीभत्स—स्त्री आदिके शरीरमें सुन्दरताकी बुद्धि, दुःखरूप संसारमें सुखबुद्धि एवं देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि अनात्मपदार्थोंमें आत्मबुद्धि यही अविद्या है। विद्याविपरीत मिथ्याज्ञान ही यहां अविद्यापदसे विवक्षित है। ज्ञानाभाव विवक्षित नहीं है।

द्वितीय सूत्रमें अस्मितादि निखिल क्लेशोंका क्षेत्र—प्रसवभूमि—अविद्या है ऐसा निरूपण किया है। उन सबका विवेचन यहां विस्तारके भयसे नहीं किया जाता। योगसूत्रके भाष्यमें ये सब स्पष्ट हैं।

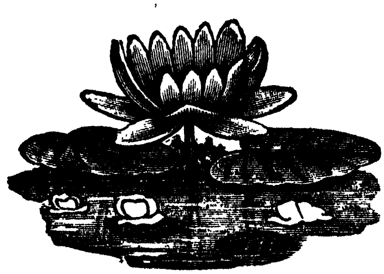
न्यायसूत्रकार महर्षि अक्षपाद भी मिथ्याज्ञानको ही सर्वानर्थका मूल और मिथ्याज्ञानके नाशको मोक्षका कारण बतलाते हैं—दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। ( न्यायसूत्र १।१।२ ) इस सूत्रमें उन्होंने प्रतिपादन किया है कि मिथ्याज्ञानसे रागद्वेषादि दोष होते हैं, दोषसे पुण्य-पापात्मक कर्ममें प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्तिसे उत्कृष्टापकृष्ट देह धारणरूप जन्म, और जन्मसे दुःख। इस तरह दुःखका मूल मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेपर दोष नष्ट होते हैं, रागद्वेषादि दोषका नाश होनेपर प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, प्रवृत्तिके अभावमें जन्म नहीं होता है, जन्माभाव होनेसे दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्तिरूप अपवर्ग—मोक्ष—सिद्ध होता है।

वैशेषिक दर्शनकार कणादमुनि भी 'धर्मविशेषप्रसूतात्' इत्यादि सूत्रमें 'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' इस वचनसे विपरीत ज्ञानको बन्धका कारण सूचित करते हैं।

उत्तरमीमांसामें कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजी 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस

शास्त्रारम्भसमर्थक सूत्रमें जिज्ञासापदसे सन्देह और प्रयोजनको सूचित करते हुए बन्धको ज्ञाननिवर्त्य बतलाते हैं। सत्य पदार्थकी कभी ज्ञानसे निवृत्ति नहीं होती है कल्पितकी ही निवृत्ति अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारसे होती है। इससे कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सम्पूर्ण बन्ध अध्यासमूलक ही सिद्ध होता है। वस्तुतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिसे रहित शुद्ध चैतन्यरूप प्रत्यागात्मामें अनात्म देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदिका तादात्म्याध्यास और अचिद्रूप अन्तःकरण आदिमें आत्मधर्मचैतन्याद्यध्यासपूर्वक अहंता, ममता रूप लौकिक व्यवहार अनादिकालसे प्रवृत्त हुआ है। और वह आत्मैकत्वज्ञानसे ही निवृत्त होता है। अध्यासभाष्यके उपसंहारमें पूज्यपाद भाष्यकार श्रीमच्छङ्कराचार्य कहते हैं—'एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः। अस्याऽनर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते' इत्यादि *। यद्यपि अद्वैतवेदान्तसिद्धान्तमें माया आवरणविक्षेपरूपशक्तिद्वयविशिष्ट अनिर्वचनीय भावरूप ब्रह्माश्रित सर्वप्रपञ्चोपादान मानी गई है। वह अग्रहणरूप है और अन्यथा-ग्रहणात्मक अध्यास उसका कार्य है। तथापि माया या अविद्याकी अनर्थहेतुता अध्यास द्वारा ही है। इस हेतुसे 'तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते' इस वाक्यसे भाष्यकारने कार्यकारणके अभेदोपचारसे अध्यासको ही अविद्यारूप कहा है। इस प्रकार सर्वशास्त्रोंमें अविद्या ही सब अनर्थोंकी मूलभूत बतलायी गई है।

( क्रमशः )



* इस प्रकार अनादि अनन्त नैसर्गिक मिथ्याज्ञानस्वरूप और आत्मामें कृर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि उत्पन्न करनेवाला यह अध्यास सब लोगोंके प्रत्यक्ष है। इस अनर्थके हेतु अध्यासका समूल नाश करनेके लिए एवं ब्रह्म और आत्माके एकत्वका ज्ञान उत्पन्न करके लिए सब वेदान्तोंका आरम्भ किया जाता है इत्यादि।

# महर्षि वाल्मीकिजी द्वारा वर्णित श्रीरामजीके सोलह स्थान

( *लेखक—साहित्यरञ्जन पण्डित श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी* )

रामचरितमानसकार श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके हृदयमें महर्षि वाल्मीकिजीकी बड़ी प्रतिष्ठा है। वन्दनामें सीधे-सीधे उनका नाम न लेकर, कहते हैं—

वन्दौ मुनिपदकञ्जु, रामायण जेहि निरमयेउ।
सखर सुकोमल मञ्जु, दोषरहित दूषण-सहित ॥

अयोध्याकाण्डमें कुल १३ छन्द हैं। उनमें से बारहमें श्रीगोस्वामीजीने अपना उपनाम 'तुलसी' दिया है, केवल श्रीवाल्मीकिजीके आश्रममें, प्रभु-मिलन-प्रसंगमें, छन्द कहते समय कवि बननेमें सङ्कोच किया और अपना उपनाम नहीं दिया। यथा—

श्रुति-सेतु-पालक राम तुम जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ दयानिधानकी ॥
जो सहससीस अहीस महिधर लखन सचराचरधनी।
सुरकाज लगि नरराज तन चले दलन खलनिसिचर-अनी ॥

इसीसे आप समझ सकते हैं कि उक्त महात्माजीका महर्षिजीके प्रति कितना आदर था। रामायणका रहस्योद्घाटन भी श्रीगोस्वामीजीने भगवान् वाल्मीकिके श्रीमुखसे ही कराया है। आज मुझे इसी विषयमें आपकी सेवामें कुछ निवेदन करना है।

श्रीरामचरितमानस लिखते समय श्रीगोस्वामीजीने बीस स्थानोंमें अपनी चिकीर्षाका उल्लेख किया हैं, जिनमें से तीन तो प्रसङ्ग विशेषके सम्बन्धमें है।

यथा—( १ ) कहिहौं सोइ संवाद बखानी।
( २ ) सो सब हेतु कहब मैं गाई।
( ३ ) अब सोइ कहौं प्रसङ्ग सब सुमिरि उमावृषकेतु।

और एक नानापुराण-निगमागमसम्मत रामकथा कहनेके विषयमें है, फिर भी सोलह चीकीर्षा रामायणविषयक रह जाती हैं। जैसे—

( १ ) वरनउँ रामचरित भवमोचन ।
( २ ) तेहि बल मैं रघुपति गुनगाथा । कहि हौं नाइ रामपद माथा ।
( ३ ) करिहौं रघुपति-कथा सोहाई ।
( ४ ) करहु कृपा हरिजस कहउँ ।
( ५ ) वरनउँ रामचरित चित चाऊँ ।
( ६ ) सुमिरि सो नाम रामगुनगाथा । करहुँ नाइ रघुनाथहिं माथा ।
( ७ ) वरनउँ रघुवर-विसद-जस ।
( ८ ) भाषाबद्ध करव मैं सोई ।
( ९ ) तस कहिहौं हिय हरिके प्रेरे ।
(१०) करौं कथा भव-सरिता तरनी ।
(११) वरनौ विसद रामगुन-गाथा ।
(१२) करौं कथा हरिपद धरि सीसा ।
(१३) कहौं कथा सोइ सुखद सोहाई ।
(१४) करइ मनोहर मति अनुहारी ।
(१५) कह कवि कथा सोहाइ ।
(१६) कहौं जुगल मुनिवर्य्यकर मिलन सुभग संवाद ।

यद्यपि इन महात्माने ऐसे ढङ्गसे कहा कि यह वीप्सा खटकती नहीं है, फिर भी वरनउँ, कहउँ, करौं की सोलह वार आवृत्ति करना निरर्थक नहीं है । बहुत दिनोंसे यह बात मनमें घूम रही थी, पर कोई समाधान नहीं मिलता था । एक दिन 'वाल्मीकि-प्रभुमिलन' प्रसङ्गका विचार करते समय अकस्मात् इसका समाधान हो गया । अतः श्रीगुरुकृपासे जो बात मनमें आई, उसे आप लोगोंके भी श्रवणगोचर किये देता हूँ ।

एक रामायण ( श्रीरामजीका स्थान श्रीरामचरितमानस ) को भाषाबद्ध तो श्रीगोस्वामीजीने किया, पर उसीके अन्तर्गत 'वाल्मीकप्रभुमिलनप्रसङ्ग' में सोलह रामजीके स्थान श्रीमहर्षिजीके मुखसे कहलाकर षोडशकलपुरुषविषयिणी उन वाल्मीकिजी की कविताकी पूर्णता दिखलाई । अतः उनकी की हुई सोलहों वारकी चिकीर्षा सार्थक है ।

(१) अब शेष षोडश रामजीके स्थान, जो वाल्मीकि महर्षिजीके मुखसे

कहलाये गये हैं, उनका विवरण किया जाता है। भगवान् रामचन्द्रके पूछने-पर कि मैं कहाँ ठहरूँ ? महर्षिजीने कहा—

'पूछेहु मोहिं कि रहउँ कहँ, मैं पूछत सकुचाउँ।
जहँ न होउ तहँ देहुँ कहि, तुम्हहि बतावउँ ठाउँ ॥'

तुम पूछते हो कि कहाँ रहूँ ? पर मुझे तो पूछते सङ्कोच होता है, जहाँ तुम नहीं हो, उस स्थानको तुम मुझे बता दो, तो उसी स्थानको मैं तुम्हें रहनेके लिए बतला दूँ। भावार्थ यह निकला कि 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना'। विश्व ब्रह्माण्डमें श्रीरामजी सभी स्थानोंमें रहते हैं। अतः अखिल ब्रह्माण्ड ही श्रीरामचन्द्रजीका स्थान है।

इस स्थानका वर्णन महर्षि श्रीवाल्मीकिजीने बड़ी कुशलतासे किया है—

राम स्वरूप तुम्हार, बचन-अगोचर बुद्धिपर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति जहँ निगम कहँ ॥
जग पेखन तुम देखन हारे। विधि हरि शम्भु नचावन हारे ॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुमहिं को जाननि हारा ॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई ॥

× × × ×

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। विगतबिकार जान अधिकारी ॥

अन्यत्र भी कई स्थानोंमें श्रीरामायणमें इस स्थानका वर्णन आता है—

पद बिनु चले सुनै बिनु काना।
कर बिनु कर्म करहि बिधि नाना ॥

× × × ×

विषय करण सुर जीव समेता।
सकल एक ते एक सचेता ॥
तिन्ह कर परम प्रकाशक जोई।
राम अनादि अवधपति सोई ॥

श्रीमद्भागवत ११वें स्कन्धके—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

किन्तु इसके ज्ञाता भी कोई विरले ही होते हैं।

नमः परस्मै पुरुषाय भूयसे समुद्भवस्थाननिरोधलीलया ।
गृहीतशक्तित्रितयाय देहिनामन्तर्भवायानुपलक्ष्यवर्त्मने ॥
भूयो नमः सद्‌ वृजिनच्छिदेऽसतामसंभवायाखिलसत्त्वमूर्तये ।
पुंसां पुनः पारमहंस्य आश्रमे व्यवस्थितामनुमृग्यदाशुषे ॥

[ भा० २ । ४ । १२, १३ ]

संसारसे जिनकी वासना हट गई, ब्रह्मलोक तकके ऐश्वर्य जिनकी दृष्टि काकविष्ठाके सदृश हो गये हैं, ऐसे परमहंस परिव्राजक महात्माओंकी उस स्थानमें पहुँच हो सकती है। वे जिनपर कृपा करें, ऐसे दूसरे अधिकारी भी उनकी कृपासे पहुँच सकते हैं।

(२) अब श्रीरामजीका दूसरा स्थान सुनिये—

वालमीकि हँसि कहा बहोरी । बानी मधुर अमिय जनु बोरी ॥
सुनहु राम अब कहहुँ निकेता । जहाँ बसहु सिय-लखन समेता ॥
जिन्हके श्रवन समुद्र समाना । कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥
भरहिं निरन्तर होहिं न पूरे । तिन्हके हिय तुमकहँ गृह रूरे ॥

जिनके हृदय समुद्रके समान हैं, और तुम्हारी कथा नाना प्रकारकी सुन्दर नदियाँ हैं। दिन-रात भरा करती हैं और वे पूरे नहीं होते। उन्हींका हृदय तुम्हारे लिए सुन्दर घर है। ऐसे भक्तोंकी कथा पूर्वार्ध बालकाण्डमें है। श्रीराम-चरितके मुख्य श्रोता भारद्वाज और उमा, ऐसे ही भक्त हैं। भरद्वाज, जैसे—

बहु लालसा कथा पर बाढ़ी । नयन-सलिल रोमावलि ठाढ़ी ।

उमा, जैसे—नाथ तवानन-ससि श्रवत कथा-सुधा रघुवीर ।
श्रवन पठन मन पान करि नहि अघात मतिधीर ॥

(३) अब श्रीरामजीका तीसरा स्थान सुनिये—

लोचन चातक जिन करि राखे । रहहिं दरस जलधर अभिलाखे ॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी । रूप-बिंदु-जल होहिं सुखारी ॥
तिन्हके हृदय सदन सुखदायक । बसहु बंधु-सिय-सह रघुनायक ॥

जिन्होंने अपनी आंखोंको चातक ( पपीहा ) बना रक्खा है, वे दर्शनरूपी मेघकी अभिलाषा किया करते हैं। नदी, समुद्र और भारी तालाबके जलका भी निरादर करते हैं। रूप-बिन्दु-जलसे सुखी होते हैं, उनका हृदय सुखदायक घर है, उसीमें बसो ( अर्थात् वे ही श्रीरामजीके स्थान हैं )। ऐसे ही भक्तोंकी कथा

उत्तरार्द्ध बालकाण्डमें है। स्वायम्भुव मनु, शतरूपा, विश्वामित्र, लक्ष्मण, जानकी आदि ऐसे ही भक्त हैं। स्वायंभुव मनु और शतरूपा जैसे—

उर अभिलाख निरन्तर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥
विधि-हरि-हर तप देखि अपारा। मनु-समीप आये बहु बारा॥
मांगहु वर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥

यहां विधि, हरि और हर नदी, सागर और सरस्थानीय हैं, इनका भी निरादर स्वायम्भुव मनु और शतरूपाने किया। विश्वामित्र, जैसे—

कौशिकरूप पयोनिधि पावन। प्रेमवारि अवगाह सुहावन॥
रामरूप राकेस निहारी। बढ़त बीची पुलकावलि भारी॥

लक्ष्मण, जैसे—

रामहिं लखन विलोकत कैसे। शशिहिं चकोर-किशोरक जैसे॥

जानकीजी, जैसे—

सीय सुखहि वरनिय केहि भाती। जनु चातकी पाई जल स्वाती॥

(४) चौथा श्रीरामजीका स्थान, जैसे—

जस तुम्हार मानस विमल, हंसिनि जीहा जासु।
मुक्ताफल गुनन चुनहि, राम बसहु हिय तासु॥

तुम्हारा यश तो निर्मल मानसरोवर है, उसमें से जिनकी जिह्वारूपी हंसिनी गुणगण चुना करती है, हे राम! उनके हृदयमें बसो। ऐसे भक्तोंकी कथा अयोध्याकाण्डके पूर्वार्द्धमें है। अयोध्यावासी, निषाद, ग्रामवासी आदि ऐसे ही भक्त हैं। अवधवासी जैसे—

राम रूप गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होई देखि सुनि राऊ॥

लोगोंसे रामजीके रूप, गुण आदि सुनकर राजा प्रमुदित होते हैं। अयोध्यामें सरकारके रूप, गुण, शील और स्वभावकी चरचा फैल रही है—

सबके उर अभिलाष अस, कहहिं मनाइ महेस।
आपु अवध तजु राजपद, रामहिं देउ नरेस॥

निषाद, जैसे—

चरन-कमल-रजकहँ सब कहई। मानुष करन मूरि कछु अहई॥

ग्रामवासी—

ते पितु मातु धन्य जिन जाए। धन्य सो नगर जहाँ ते आए॥
धन्य सो देस सैल वन गाऊँ। जहँ जहँ जाहिं धन्य सो ठाऊँ॥
सुख पायेउ विरंचि रचि तेही। ये जिनके सब भाँति सनेही॥

(५) पाचवाँ श्रीरामजीका स्थान, जैसे—

प्रभु-प्रसाद सुचि सहज सुवासा । सादर जासु लहई नित नासा ॥
तुमहिं निवेदित भोजन करहीं । तब प्रसाद पट भूषन धरहीं ॥
सीस नवहि सुर गुरु द्विज देखी । प्रीति सहित करि विनय विसेषी ।
कर नित करहिं रामपद-पूजा । राम भरोस हृदय नहिं दूजा ॥
चरन राम-तीरथ चलि जाही । राम बसहु तिनके मन माही ॥

ऐसे भक्तोंका हृदय आपका स्थान है । उत्तरार्ध अयोध्याकाण्डमें ऐसे भक्त भरतजीकी कथा है । भरतजीका प्रसादपर अनुराग, जैसे—

आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा । सोइ प्रसाद जन पावइ देवा ।

'तुमहि निवेदित भोजन करहीं । तब प्रसाद पट भूषन धरहीं ॥' का उदाहरण

जैसे—जात पयादे खात फल पिता दीन्ह तजि राज ।
जात मनावन रघुपतिहि भरत सरिसको आज ॥

अन्न नहीं खाते, क्योंकि उसे सरकारको निवेदन नहीं कर सकते । सरकारका 'मुनिव्रत-वेष-अहार' हैं ।

'सीस नवहि सुर गुर द्विजदेखी । प्रीति सहित करि विनय विशेषी ॥' का उदाहरण

जैसे—कतहु निमज्जनि कतहु प्रनामा । अथवा
करि प्रनाम पूछहिं जेहि तेही । केहि वन लखन राम वैदेही ।

अब भरतजी की 'कर नित करहि रामपद-पूजा' कहते हैं, जैसे—

नित पूजत प्रभु-पावरी प्रीति न हृदय समाति ।
भागि भागि आयसु करत राजकाज चहु भाति ॥

तत्पश्चात् 'चरण राम-तीरथ चलि जाही', का उदाहरण देखिए—

'चले रामवन अटन पयादे ।

(६) छठा श्रीरामजीका स्थान—

मन्त्रराज नित जपहिं तुम्हारा । सेवहिं तुमहि सहित परिवारा ।
तर्पन होम करहिं विधि नाना । विप्र जेवाइ देहिं बहु दाना ॥
सबकर मागहिं एक फल रामचरनरति होउ ।
तिन्हके मन-मन्दिर बसउ सिय रघुनन्दन दोउ ॥

जो नित्य तुम्हारे मन्त्रराजका जप करते हैं, परिवार सहित तुम्हारी सेवा करते हैं, नाना प्रकारके तर्पण-होम करते हैं, ब्राह्मण भोजन कराके दान देते हैं और सबका यही फल मागते हैं कि श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम हो, ऐसे लोगोंके

हृदयमें बसो, अर्थात् ऐसोंका हृदय आपका स्थान है। अरण्यकाण्डके पूर्वार्धमें ऐसे भक्त अत्रि आदि ऋषियोंकी कथा है। ये इसी प्रकारके भक्त थे। जैसे—

लक्षण—मन्त्रराज नित जपहिं तुम्हारा।

उदाहरण—निसदिन देव जपतहहु जेही।

लक्षण—पूजहिं तुमहि सहित परिवारा। उदाहरण जैसे—

ऋषि जी कहते हैं—भजे सशक्ति सानुज। सचीपति प्रियानुज।

लक्षण—सबकर मागहि एक फल रामचरनरति होउ। उदाहरण जैसे—जोग जाग जप तप जत कीन्हा। प्रभुकहँ देइ भगति वर लीन्हा। अथवा, पदाब्जभक्ति देहि मे।

(७) सातवाँ श्रीरामजीका स्थान—

काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोह न राग न द्रोहा॥
जिनके कपट दंभ नहि माया। तिनके हृदय बसहु रघुराया॥

ऐसे भक्तोंका हृदय आपका स्थान है। अरण्यके उत्तरार्धमें ऐसे भक्त नारदजी हैं, जैसे—

काम नहीं, जैसे—काम-कला कछु मुनिहिं न व्यापी।

क्रोध नहीं, जैसे—भयऊ न नारद मन कुछ रोषा।

मद और मान नहीं, जैसे—ऐसे प्रभुहि बिलोकौ जाई।
पुनि न बनिहि अस अवसर भाई॥

मोह नहीं, जैसे—मोर स्राप करि अङ्गीकारा। सहत राम नाना दुखभारा॥

लोभ-क्षोभ नहीं, जैसे—राम सकल नामन ते अधिका।
होहु नाथ अघ-खग-गन-बधिका॥

राग-द्रोह नहीं, जैसे—अपर नाम उडुगन सरिस बसहु भगत उर-व्योम।

कपट, दंभ, माया, नहीं, जैसे—तब बिवाह मैं चाहौं कीन्हा।
प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥

(८) आठवां श्रीरामजीका स्थान, जैसे—

सबके प्रिय सबके हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी।
कहहिं सत्य प्रिय बात बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुमहिं छाँड़ि गति दूसर नाहीं। राम बसहु तिनके मन माहीं॥

ऐसे भक्तोंका मन रामजीका स्थान है। किष्किन्धाके पूर्वार्धमें ऐसे भक्त सुग्रीवजी की कथा है। सुग्रीवजी सबके प्रिय हैं, जैसे--दीन्हो राज मोहिं बरियाई।

हितकारी ऐसे कि अपने प्रबल शत्रु बालिके बधकी प्रतिज्ञा सुनकर रघुनाथजीसे कहने लगे—

बालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेउ राम तुम समन विषादा।
अब प्रभु कृपा करहु इहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती॥
सुग्रीवजीके लिए 'दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी' समान हैं, जैसे—
सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥
अब सुग्रीवजीमें 'कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी' देखिए—
नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। मुनिमन छोभ करै छन माहीं॥
'जागत सोवत सरन तुम्हारी' का उदाहरण सुग्रीववचन—
भानु पीठ सेइय उर आगी। स्वामिहिं सर्बभाव छल त्यागी॥
देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम विहाई॥
'तुमहिं छाँड़ि गति दूसर नाहीं' का उदाहरण—कह कपीस अति भय अकुलाना।
तुम हनुमन्त संग लै तारा। करि विनती समुझाउ कुमारा॥
(९) नवां श्रीरामजीका स्थान, जैसे—
जननी सम जानहिं परनारी। धन पराव विषते विष भारी॥
जे हरषहिं परसंपति देखी। दुखी होहिं परविपति विसेषी॥
जिनहिं राम तुम प्राणपियारे। तिनके मन सुभ सदन तुम्हारे॥

ऐसे भक्तोंका मन रामजीका स्थान है। किष्किन्धाकाण्डके उत्तरार्धमें ऐसे ही सुभट वानर भक्तोंका वर्णन है।

'जननी सम जानहिं परनारी। धन पराव विषते विष भारी'का उदाहरण—
मंदिर एक रुचिर तहँ, बैठि नारि तपपुंज।
दूर ते ताहि सबहिं सिर नावा। पूछे निज वृत्तान्त सुनावा॥
तब तेहि कहा करौ जलपाना। खाहु सरस सुन्दर फल नाना॥
प्यासे मर रहे थे पर माल-मालिकसे बिना पूछे जलपान नहीं किया।
'जे हरखहिं पर संपति देखी'का उदाहरण जैसे—
धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।
रामकाज कारन तनु त्यागी। हरिपुर गयउ परम बड़भागी॥
और 'दुखी होहिं परविपति विशेखी' का उदाहरण जैसे—
अस कहि लवन-सिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई।

एवं 'जिनहि राम तुम प्रानपियारे' का उदाहरण—
रामकाज लवलीन मन, बिसरा तनकर छोह ।

(१०) दसवां श्रीरामजीका स्थान—

स्वामि सखा पितु मातु गुरु, जिन्हके सब तुम तात ।
मन-मंदिर तिनके बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात ॥

ऐसे भक्तका मन श्रीरामजीका स्थान है। सुन्दरकाण्डके पूर्वार्धमें ऐसे ही भक्त भगवान् मारुतीका चरित्र है।

स्वामी, जैसे—रामदूत मैं मातु जानकी ।

सखा, जैसे—ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भये समर-सागर कहँ बेरे ॥

पितु-मातु, जैसे—मातु मोहिं दीजै कछु चीन्हा । जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा ॥

गुरु, जैसे—अस मैं अधम सखा सुनु, मोहू पर रघुवीर ।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन, भरे विलोचन नीर ॥

सब, जैसे—करहि कृपा प्रभु अस सुनि काना । निरभर प्रेम मगन हनुमाना ॥
सेवक सुत पति मातु भरोसे । फिरे असोच घनै प्रभु पोसे ॥

(११) ग्यारहवाँ श्रीरामजीका स्थान—

अवगुन तजि सबके गुन गहहीं । विप्र धेनु हित संकट सहहीं ॥
नीति-निपुन जिनकर जगलीका । धर तुम्हार तिनकर मन नीका ॥

ऐसे भक्तका मन श्रीरामजीका स्थान है। सुन्दरकाण्डके उत्तरार्धमें ऐसे भक्त विभीषणजीकी कथा है।

'अवगुन तजि सबके गुन गहहीं', इसका उदाहरण—

अंतहु भाय भलो भाईको कियो अनभलो मनाइके ।
भई कुबेरकी लात विधाता राखी वात बनाइके ( गीता० )

और 'विप्रधेनु हित संकट सहहीं' का उदाहरण—

विप्ररूप धरि वचन सुनाए । सुनत विभीषन उठि तहँ आए ॥

ब्राह्मणको शरण देना रावणके राज्यमें घोर अपराध था जैसे—

जेहि जेहि नगर धेनु द्विज पावइ । नगर गांव पुर आग लगावइ ॥

'नीतिनिपुण जिनकर जगलीका' सो रावण विभीषणजी की नीति-निपुणतासे ही विशेष चिढ़ा हुआ है। जैसे—

सठ मिलि जाइ तिनहिं कहु नीती ।

सरकार श्रीमुखसे प्रशंसा करते हैं—

मैं जानउ तुम्हारि सब रीती । अतिसय निपुण न भाव अनीती ॥

(१२) बारहवाँ श्रीरामजीका स्थान—

गुन तुम्हार समझहि निज दोषा। जेहि सब भांति तुम्हार भरोसा॥
रामभगति प्रिय लागहि जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥

ऐसे भक्तका उर श्रीरामजीका स्थान है। लङ्काके पूर्वार्धमें ऐसे भक्त समुद्रजीका उल्लेख है।

'गुन तुम्हार समुझहि निज दोषा।' का उदाहरण—
प्रभु भल कीन्ह मोहिं सिख दीन्ही।

'जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥' का उदाहरण—
करहु वेगि जो तुमहिं सोहाई।

'रामभगत प्रिय लागहि जेही।' का उदाहरण—
जलनिधि रघुपति दूत विचारी। तैं मैनाक होहिं श्रमहारी॥

(१३) तेरहवाँ श्रीरामजीका स्थान—

जाति पाँति धन धर्म बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुमहिं रहै उर लाई। तेहिके हृदय रहहु रघुराई॥

ऐसे भक्तका मन श्रीरामजीका स्थान है। लङ्काकाण्डके उत्तरार्धमें ऐसे भक्त वानर सैनिकोंका वर्णन है, वे ही ऐसे भक्त हैं। जैसे—

सुनु सुरपति कपि भालु हमारे। परे भूमि निसिचरन जे मारे॥
मम हित लागि तजे इन प्राना। सकल जियाव सुरेस सुजाना॥

(१४) चौदहवाँ श्रीरामजीका स्थान—

सरग नरक अपवर्ग समाना। जहँ तहँ दीख धरे धनुबाना॥
कर्म वचन मन राउर चेरा। राम करहु तिनके उर डेरा॥

ऐसे भक्तोंका हृदय श्रीरामजीका स्थान है। उत्तरकाण्डके पूर्वार्धमें ऐसे भक्त सनकादिका वर्णन है। 'सरग नरक अपवर्ग समाना'का उदाहरण जैसे—

समदर्शी मुनि विगत विभेदा। करम वचन मन राउर चेरा॥
आसा असन व्यसन यह तिनहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥

(१५) पन्द्रहवाँ श्रीरामजीका स्थान—

जाहि न चाहिय कबहु कछु, तुमसन सहज सनेह।
बसहु निरंतर तासु उर, सो राउर निज गेह॥

ऐसे भक्तका हृदय श्रीरामजीका स्थान है। उत्तरकाण्डके उत्तरार्धमें ऐसे भक्त भुसुण्डिजीका चरित है। जैसे—

प्रभु कह देन सकल सुख सही। भक्ति आपनी देन न कही।
भजनहीन सुख कवने काजा। अस विचारि बोलेउ खगराजा॥

यहां भक्तोंका वर्णन समाप्त हुआ। इन चौदहों स्थानोंमें प्रभुका सेवन करने वालोंको भगवद्भक्ति मिलती है। जैसे—

अस विचारि जो कर सतसंगा। रामभगति तेहि सुलभ विहंगा॥

(१६) सोलहवां श्रीरामजीका स्थान—

कह मुनि सुनहु भानुकुलनायक। आश्रम कहहुँ समय सुखदायक।
चित्रकूट गिरि करहु निवासू। जहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥

इस प्रसङ्गके लिए चित्रकूट उपलक्षण है, क्योंकि—

तहहिं अवध जहँ रामनिवासू। तहहिं दिवस जहँ भानुप्रकासू।

अतः लीला-विग्रहका निवास भी यही स्थान है। इस स्थानका सेवन करने-वालोंको परा भक्तिकी प्राप्ति होती है। जैसे—

कवनेउ जन्म अवध बस जोई। रामपरायन सो परि होई॥

इस भाँति महर्षि वाल्मीकिजीने सोलह स्थान रघुनाथजीको सुनाए। प्रत्येक काण्डके पूर्वार्ध और उत्तरार्धमें भगवत्चरितके साथ भागवतचरित भी है। वस्तुतः भागवतके हृदय और चरितमें भी सिवा भगवद्गुणानुवादके और कुछ नहीं होता सो सातों काण्डोंमें सब मिलाकर चौदह प्रकारके भक्तोंके चरित हैं। अतः चौदहों प्रकारके भक्तोंके हृदयमें बसनेकी प्रार्थनाके व्याजसे चौदह प्रकारके भक्त गिनाये गये। एवं रीत्या चौदहों प्रकारके भक्तोंके लक्षणज्ञानसे श्रीरामचरितमानसके पात्रोंके स्वभावको समझनेमें फलतः अर्थ करनेसे बड़ी सहायता मिल सकती है।

श्रीगोस्वामीजीकी वीप्साके विषयमें और महर्षि वाल्मीकिजीके उत्तर के उपयुक्त होनेके विषयमें मेरी आशङ्काएँ थीं, वे श्रीगुरुकृपासे 'वाल्मीकि-प्रभुमिलन' प्रसङ्गके मननसे जाती रहीं। आशा है कि श्रीरामानुरागी पाठकोंके लिए भी यह लेख कुछ सहायक होगा।

लेख बढ़ जानेके भयसे हृद्गत भाव अतिसंक्षेपसे कहे गये हैं, सम्भव है कि समझनेमें कुछ कठिनता पड़े, अतः पाठकोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ।

# अद्वैतचिन्ता

( लेखक—एक ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी )

यह अनुभवसिद्ध है और सब लोगोंकी बुद्धिमें आ भी सकता है कि अद्वैत-भावना लोकोत्तर आनन्दकी उत्पत्तिकी साधिका है। जब कोई यह निश्चय कर ले कि 'सब मेरे ही रूप हैं, या 'सब वासुदेवरूप हैं' या 'एक मैं ही हूँ' तो ऐसी अवस्थामें राग, द्वेष आदि दोषोंका दूर होना उचित ही है, क्योंकि जब दूसरा समझा जाता है, तभी उसके साथ राग आदि भी होते हैं। यदि दूसरा समझा ही न जाय और सबमें आत्मभावना परिपाक तक पहुँचा दी जाय, तो राग, द्वेष किससे होंगे ? बल्कि राग, द्वेष आदि करनेवाले भी ऐसी व्यक्तिके साथ राग, द्वेष आदि छोड़ देते हैं अथवा उनकी राग-द्वेषानुकूल शक्ति कुण्ठित हो जाती है। इसी आशय से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' यह श्रुति माताकी शिक्षा है। अतएव 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' यह भगवान्‌का वस्तुभूत उद्गार है। इसलिए अद्वैतभावनाके पुरुषार्थ होनेमें किसीको विवाद नहीं है।

यदि विवाद है तो केवल इसी अंशमें कि वह भ्रममूलक है अथवा प्रमामूलक है।

यदि अद्वैत वास्तव हो तो द्वितीय पक्ष ही मानना होगा, नहीं तो पहला। यद्यपि भावनाका इतना अलौकिक महत्त्व है कि वह भ्रममूलक होती हुई भी शान्ति दे सकती है, क्योंकि मानसशक्तियोंका, जिनका कि विविध विषयोंके अनुभवमें व्यय हो रहा है, एक ही विषयमें उपयोग कर देनेसे किसी असाधारण फल तक पहुँचना दुःसाध्य होता हुआ भी असम्भव नहीं है। यह मनोविज्ञानका तत्त्व है। ऐसी अवस्थामें अद्वैतके वास्तविक न होनेपर भी उसकी भावना उक्त अभीष्ट तक पहुँचा सकती है; तथापि अद्वैतके साधक प्रमाणोंके विद्यमान रहते अद्वैतबोधको भ्रम कहना अनुचित है। प्रामाण्यके स्वतस्त्व अथवा परतस्त्वमें दार्शनिकोंकी विप्रति-पत्ति होनेपर भी उसकी उत्सर्गतामें किसीको विवाद नहीं है। अधिक क्या कहें ! जो बौद्ध अप्रामाण्यको स्वतः मानते हैं, उन्हें भी व्यवहारका अनुरोध करते हुए प्रामाण्यको औत्सर्गिक मानना पड़ता ही है, क्योंकि देखा जाता है कि जिन ज्ञानोंका यथार्थत्वव्यवहार जनतामें होता है, वे भ्रमास्पद ज्ञानोंकी अपेक्षा बहुत महत्त्व रखते हैं। प्रायः ज्ञानोंका यथार्थ होना ही प्रामाण्यका औत्सर्गिकत्व समझना चाहिए।

जब यही परिस्थिति है तब गृहीत सिद्धान्तोंमें बाधक प्रमाणोंके दूर कर देनेसे ही दार्शनिक विद्वान् यदि अपने-अपने अभीष्ट सिद्धान्तको सिद्ध करें, तो कुछ

अनुचित नहीं है; क्योंकि किसी-न-किसी तरहसे सिद्धान्तका ज्ञान तो हो ही चुका है और उस ज्ञानका यथार्थ होना भी उत्सर्गतः प्राप्त ही है, केवल बाधकके दूर कर देनेसे वह प्रामाण्य यथावत् बना ही रहता है।

अद्वैतज्ञानमें यदि बाधक ढूँढा जाय, तो आपाततः सब-के-सब प्रमाण सामने उपस्थित होंगे, क्योंकि प्रत्यक्षादिसे द्वैत ही प्रतीत होता है। परन्तु अद्वैतवादके प्रकाण्ड विद्वान् विनीतभावसे तथा निष्पक्षपात होकर इन प्रमाणोंके विरोधका परिहार करते हुए सहृदय जनताको अपनाये बिना नहीं रहते। उनका यह कहना है कि उक्त रीतिसे प्रामाण्यके औत्सर्गिक सिद्ध होनेपर झटपट द्वैतप्रमाणोंको या अद्वैतप्रमाणोंको सर्वथा अप्रमाण कह देना बहुत अनुचित है। सबकी बात माननी होगी। मगर किस ढंगसे वह मानी जाय, इसके लिए कोई रमणीय मार्ग ढूँढ़ निकालना चाहिए। जिसमें सब प्रमाण प्रेमसे अपने-अपने स्वास्थ्योपयोगी सार्वदिक भ्रमणको निभा सकें।

अब यह विचार करना चाहिए कि वह मार्ग कौन है? यदि यह कहा जाय कि प्रत्यक्षादिसिद्ध द्वैत ही ठीक है, तो 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि सैकड़ों श्रुतियाँ पीड़ित होंगी। यह कहना भी ठीक नहीं होता कि इन श्रुतियोंको द्वैतमें ही हिल-मिल जाना चाहिए, क्योंकि स्फुट अद्वैत ही उनका अर्थ प्रतीत हो रहा है और वह भी तीन पदोंसे। ऐसी अवस्थामें खींचातानी करनेकी अपेक्षा तो उन्हें सर्वथा अप्रमाण कहना ही उचित होगा। मगर वैदिकसमाजान्तःपाती ऐसा कहनेका साहस नहीं कर सकता। यदि केवल इन अद्वैत श्रुतियोंका ही अनुरोध कर प्रत्यक्षादिकोंकी अवहेलना की जाय, तो यह भी बहुत अनुचित है। दोनोंका अप्रामाण्य या समभावसे प्रामाण्य उपपादन करना तो बहुत ही कठिन है, इसलिए एकके प्रामाण्यको कुछ अग्रसर दर्जा देकर और दूसरेके प्रामाण्यको कुछ न्यून दर्जा, जिससे कि उसे पीड़ा भी प्रतीत न हो, देकर ही व्यवस्था करनी होगी। अग्रसर दर्जा है—पारमार्थिक प्रमाणका अर्थात् तीनों कालोंमें बाधित न होनेवाली वस्तुको विषय करनेवालेका। और न्यून दर्जा है—व्यावहारिक प्रामाण्यका अर्थात् व्यवहार कालमें रहनेवाली अथवा बाधित न होनेवाली वस्तुको विषय करनेवालेका। मगर यह न्यून दर्जा श्रुतिको नहीं दिया जा सकता, क्योंकि अद्वैत व्यवहारका विषय नहीं है और द्वैत तो व्यवहारका विषय है, अतः प्रत्यक्षादिको ही व्यावहारिक प्रामाण्यमें चरितार्थ करना चाहिए। परिशेषात् श्रुतिका पारमार्थिक प्रामाण्य ही मानना चाहिए। प्रत्यक्षादिका व्यावहारिक प्रामाण्य तो और लोग भी मानते ही हैं। हाँ, विशेष इतना ही है कि वे व्यावहारिकको ही पारमार्थिक कहते हैं, मगर यह ठीक नहीं है, क्योंकि पारमार्थिक वस्तु वह हो सकती है, जिसका कभी नाश न हो। घटादिका तो नाश प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः उनको पारमार्थिक कहना अनु-

चित है। यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि नष्ट न होनेवाली ही वस्तु परमार्थ है, ऐसी अवस्थामें आकाशादि नित्य पदार्थ भी परमार्थ मानने पड़ेंगे, क्योंकि 'अतोऽन्यदार्तम्' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मातिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थ स्पष्ट रीतिसे नश्वर कहे गये हैं। इसलिए जो नित्य ब्रह्म है, वही परमार्थ है और बाकी सब अपरमार्थ हैं। यहाँ यह शङ्का होती है कि ऐसा कहनेसे अनित्यत्व और अपारमार्थिकत्व एक ही हुए। यद्यपि द्वैती लोग इसमें भी सिद्धसाधन नहीं दे सकते, क्योंकि ब्रह्मसे अतिरिक्त सब अनित्य हैं, ऐसा कोई नहीं मानता; तथापि 'प्रपञ्च तीनों कालोंमें नहीं है' इस वेदान्तसिद्धान्तकी रक्षा न होगी। इस शङ्काका उत्तर यह है कि अनित्यत्व और अपारमार्थिकत्वके एक जगह रहनेपर भी वे एकस्वरूप नहीं हैं। हाँ, जो अनित्य होता है, वह अपारमार्थिक अवश्य होता है। इसलिए व्यवहारकालमें द्वैतको मानने और परमार्थतः तीनों कालोंमें उसका अभाव माननेमें कोई विरोध नहीं है। इसलिए अद्वैतज्ञान प्रमा ही है। उसके प्रमा होनेसे तन्मूलक भावनाका केवल शान्तिरूप दृष्ट फल ही नहीं है, किन्तु अज्ञानका, जो कि सब भ्रमोंका मूल है, उच्छेद करती हुई वह मुक्ति भी दे सकती है। इति शम्।

---

## होली

रंगी हौं तो रंग तिहारे और रंग जनि डारो ॥
खेलहिं खेलत जन्म सिरान्यौ यातें अब निरवारो।
हौं तो सब विधि भई तिहारी खेलहिंमें जनि टारो ॥
श्यामहिं रंग रँग्यो सब तन मन जो न होय पतियारो।
आवहु हृदय चीर नेक देखहु रमि रह्यौ रंग तिहारो ॥
कारे पै रंग और न चढ़ि है भिजवो न यह तन सारो।
काहेको बरबस लोग हँसावहु 'दास हरी' निस्तारो ॥

*'दास हरि'*

# श्रीरामचरितमानसमें होली

( लेखक—साहित्यरञ्जन पण्डित श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी )

पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजीने कहा है कि—

'कीरति सरित छवो रितु रूरी । समय सुहावन पावन भूरी' ॥

यह कीर्ति सरित छहों ऋतुओंमें सुन्दर है, समय सोहावन है; सो इस समय फाल्गुन चल रहा है, माघ बीत गया । ये ही दो महीने मिलकर शिशिर कहलाते हैं । अब यह देखना है कि इन महात्माने शिशिर किसे माना है, तो चौपाई मिली ।

'शिशिर सुखद प्रभु जनम उछाहू' ।

अतः प्रभु-जन्म हुआ माघ, और उछाह हुआ फाल्गुन । अब थोड़ा-सा उछाह-वर्णन सुनिये और राम-कथामें होलीका आनन्द लीजिए ।

गोस्वामीजी कहते हैं—

'त्रिविध ताप होली जलै खेलिय अस फाग' । ( विनय-पत्रिका )

सो त्रिविध तापकी होली तो सरकारके जन्म लेते ही जल गई, जैसे—

हरखित जहँ-तहँ धाईं दासी । आनँद मगन सकल पुरबासी ॥
दसरथ-पुत्र-जन्म सुनि काना । मानहु ब्रह्मानन्द समाना ॥
परमानंद पूरि मन राजा । कहहु बोलाइ बजावहु बाजा ॥

नगरमें आनन्द मच गया, तैयारियाँ होने लगीं; देवताओंने भी हाथ बटाया ।

ध्वज पताक तोरन पुर छावा । कहि न जाइ जेहिं भाँति बनावा ॥
सुमन-वृष्टि अकास ते होई । ब्रह्मानंद मगन सब लोई ॥
वृंद वृंद मिलि चलीं लुगाईं । सहज सिंगार किये उठि धाईं ॥

अब लोगोंका हाल सुनिये—

लै लै ढोल प्रजा प्रमुदित चले, भाँति भाँति भरि भार ।
करहिं गान करि आन रायकी, नाचहिं राज दुआर ॥
गज रथ बाजि वाहिनी बाहन, सबन सँवारे साज ।
जनु रतिपति रितुपति कोसलपुर, विहरत सहित समाज ॥

घंटा घंटि पखाउज आउझ झाझ वेनु डफ तार ।
नूपुर धुनि मंजीर मनोहर कलकंकन झनकार ।
नृत्य करहिं नट-नटी नारि-नर अपने-अपने रंग ।
मनहु मदनरति विविध वेषधरि नटत सुवेष सुढंग ॥
उघरहिं छंद प्रबंध गीतपद राग तान बँधान ।
सुनि किन्नर-गंधर्व सराहत विथके हैं विबुध विमान ॥

कुंकुम-अगर-अरगजा छिरकहिं भरहिं गुलाल-अबीर।
नभ प्रसून झरि पुरी कोलाहल भई मनभावनि भीर ॥ (गीतावली)

सो सूखे और गीले दोनों प्रकारके रंगोंकी ऐसी भरमार हुई कि गलियोंमें कीच मच गई। जैसे—

मृगमद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल वीथिन्ह बिच बीचा ॥

जिस भाँति होलीकी उमंगमें बहुत-सी अनुचित बातें भी उचित मान ली जाती हैं, उसी भाँति छोटी-मोटी चोरी भी हास-परिहासमें ही परिगणित होती है। लड़के उछाहमें भरे हुए स्वाँग बनाये फिरते हैं। यहाँ बड़े बूढ़ोंकी चोरी देखिये—

औरो एक कहहुँ निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ॥
कागभुसुंडि-संग हम दोऊ। मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ ॥
परमानंद प्रेमरस फूले। बीथिन फिरउँ मगन मन भूले ॥

अब होली ही हो रही है तो थोड़ी गाली भी सुनिये। बिना गालीकी होली मातम मालूम होती है। जब क्रोधकी गाली तीन सौ साठ दिन सभ्य समाज में भी बराबर चला ही करती है, तो प्रेमकी गाली केवल एक दिनके लिए यदि हर्षोद्दीपक न हो तो क्षम्य तो अवश्य ही है। श्रीगोस्वामीजीने भी कहा है—

अमिअगारि गार्‌यौ गरल, गारि कीन्ह करतार।
प्रेम वैरकी जननि जुग, जानहि बुध न गँवार ॥ (दोहावली)

इस महोत्सवमें सभी सम्मिलित हुए, प्रजाओंकी तो भीड़ उमड़ पड़ी, देवताओंने फूलोंकी झड़ी बाँध दी, शङ्कर भगवान् स्वयम् भुसुण्डिजीके साथ मनुष्यका स्वाँग बनाये फिरते थे। ऐसे आनन्दके समय यदि अभिसारिका भी अपने प्रियतमसे होलीकी कसक मिटाने चले, तो इसमें आश्चर्य्य क्या है। तो रात्रिदेवी अभिसारिका होकर अपने प्रियतमसे मिलने चली। समय मध्याह्नका था, ऐसे समय रात्रिदेवीने कभी चौखटसे बाहर पाँव नहीं निकाले थे। वे जानती भी न थीं कि मध्याह्न किस बलाका नाम है, पर दुर्गम बाधाओंका भी सामना कर बैठना अभिसारिकाओंके हिस्सेकी बात है। रात्रि देवी भी अभिसारिकोचित साहस करके निकल पड़ीं, पर देखती क्या हैं कि सूर्य्यदेव बड़े ठाट-बाटसे रथ रोके खड़े हैं। रात्रिने कभी सूर्य्य-नारायणको देखा न था, अपरिचित बड़े बूढ़ेको देखकर संकुचित हो गई। सङ्कोचसे वे सन्ध्यारूपिणी हो गई। जैसे—

अवधपुरी सोहै एहि भाँती। प्रभुहि मिलन आई जनु राती ॥
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी सन्ध्या अनुमानी ॥

अब सन्ध्याका रूपक देते हैं। सन्ध्याके समय अँधेरा भी आ जाता है, और सूर्य्यके कारण लाली भी रहती है। उस अँधेरी और लालिमाका अद्भुत दृश्य होता

है। अति पटु चित्रकार ही उसे चित्रपटपर अंकित कर सकता है। यहाँ जलते हुए धूपके धुएँकी अंधेरी है, और उड़ती हुई अबीरकी लालिमा है। सो मानो रात्रिदेवी स्तब्ध होकर सन्ध्याके रूपमें खड़ी रह गई।

अगर धूप जनु बहु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहु अरुनारी॥

पूर्णिमा होनेसे अभी सूर्य्यदेव अन्धकारसे पूरी तरह विलीन नहीं हुए थे, उधर पूर्वसे निशानाथ भी अपने ताराओंकी सेना साथ लिये आते हुए दिखाई पड़े। अब बेचारी अभिसारिका कहाँ जाय ? पीछे लालभभूका हुए रजनीकान्त और सामने रागरञ्जित बदन बूढ़े दिनमणि—

मन्दिर मनि समूह जनु तारा। नृपगृह-कलस सो इंदु उदारा॥

चिड़ियोंको भी धोखा हो गया कि सचमुच सन्ध्या ही हो गई। अतः वे भी चहचहाने लगीं—

भवन वेद धुनि अति मृदुबानी। जनु खग मुखर समय जनु सानी॥

बूढ़े सूर्य्यदेवने भी निशा सुन्दरी और उसके शृङ्गारका बड़ा वर्णन सुन रक्खा था, कभी देखनेकी नौबत नहीं आई थी।

बिथुरे नभ मुक्ताफल तारा। निसि सुन्दरी केर सिंगारा॥

आज निशा सुन्दरीको देख पाया, सो ऐसे मुग्ध हुए कि अपनेको ही भूल गये।

कौतुक देखि पतंग भुलाना। मास दिवस तेहि जात न जाना॥

एक महीने देखते ही रह गये, और रात्रि देवी सन्ध्या बनी ही रह गई। यदि किसी भाँति ये बूढ़े बाबा हटें, तो रात्रि देवी भी सन्ध्यारूपी घूँघट खोलकर अपने प्रियतम से मिले, पर ये हटते ही नहीं। जैसे—

मासदिवस कर दिवस भा मरम न जानै कोय।
रथ समेत रवि थाकेउ निसा कवन विधि होय॥

होलीकी धुनमें मस्त लोगोंको क्या पता कि आकाश में क्या हो रहा है। उन्हें भूलोकका ही पता नहीं, या यों कहिये कि अपना ही पता नहीं। जैसे—

जेहि सुखसुधासिंधु-सीकरते सिव बिरंचि प्रभुताई।
सो सुख अवध उमगि रह्यौ दस दिसि कवन जतन कहौं गाई॥

यहाँ एक महीनेका दिन हो गया, उन्हें आनन्दातिशयमें क्षण प्रतीत हो रहा है।

व्योम पवन पावक जल थल दस दिसहु सुमंगल मूल।
सुर दुंदुभी बजावहिं गावहिं हरखहिं बरखहिं फूल॥ (गीतावली)

इसी भाँति छहों ऋतुओंका वर्णन श्रीरामचरितमें है। यदि परमेश्वरकी इच्छा हुई तो प्रत्येक ऋतुका वर्णन अच्युतमें प्रकाशित करनेका उद्योग किया जायगा।

# महर्षि व्यासजीके तात्पर्यका निर्णय *

*( लेखक—पण्डित श्रीकृष्णपन्त साहित्याचार्य )*

परम कृपालु भगवान् श्रीहरिने सम्पूर्ण लोकोंके अनुग्रहके लिए व्यासरूपसे अवतार लेकर परस्पर विरुद्ध-से ज्ञात होनेवाले वेदान्तवाक्योंके तात्पर्यको जाननेमें असमर्थ मन्दबुद्धियोंको सम्पूर्ण उपनिषदोंके यथार्थ तात्पर्यके निर्णय द्वारा परम पुरुषार्थका साधनभूत तत्त्वज्ञान हो, इसलिए 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से लेकर 'अनावृत्तिः शब्दात्' तक ब्रह्मसूत्रोंकी रचना की †। व्यासजी द्वारा निर्मित उक्त सूत्रोंका आशय अति स्फुट नहीं है, अतएव भगवत्पाद शङ्कराचार्य, भट्टभास्कर, श्रीकण्ठाचार्य, यादवप्रकाश, रामानुज, मध्व, चित्प्रकाश और वल्लभाचार्यने अपने-अपने सिद्धान्तके अनुरूप उनकी व्याख्या की। उनमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके मतमें जीव और ब्रह्मका अभेद स्वाभाविक एवं पारमार्थिक है तथा भेद औपाधिक और काल्पनिक है। भट्टभास्करके मतमें जीव और ब्रह्मका भेद स्वाभाविक और पारमार्थिक है, एवं भेद औपाधिक होनेपर भी पारमार्थिक है। यादवप्रकाशके मतमें जीव और ब्रह्मका भेद और अभेद स्वाभाविक ही है। श्रीकण्ठ और रामानुजके मतमें जीव और ब्रह्मका भेद स्वाभाविक और विशिष्टाद्वैत ‡ है। इन दोनोंके मतमें इतना अन्तर है

---

* 'व्यासतात्पर्यनिर्णय' के आधारपर।

† स च नारायणस्यांऽशो भगवान् बादरायणः।
दृष्ट्वा मन्दमतीन् मर्त्यान् कृपया परयाऽन्वितः॥
वेदान्तार्थस्तु सर्वेषां नाना भाति न चैकधा।
अतस्तेन कथं ब्रह्म जानात्यल्पमतिः पुमान्॥
इति संचिन्त्य मतिमान् पुनः कारुणिकोत्तमः।
सूत्रयामास वेदान्तवाक्यार्थं शङ्कराज्ञया॥
( शैव पु० एकादश रुद्रसंहिता )

‡ द्वयोर्भावः द्विता, द्वितैव द्वैतम्; भेद इत्यर्थः। न द्वैतमद्वैतम्—अभेदः। विशिष्टस्य अद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्—अर्थात् अपनेसे भिन्न चेतन ( जीव ) और अचेतन ( जगत् ) से विशिष्ट ब्रह्म एक ही तत्त्व है, ऐसा प्रतिपादन होनेसे रामानुजमत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

कि श्रीकण्ठ शिवको परम तत्त्व मानते हैं और रामानुज विष्णुको परम तत्त्व मानते हैं। मध्वाचार्यके मतमें तो जीव और ब्रह्मका भेद ही स्वाभाविक है।

वेदान्तके तात्पर्यका निर्णय करना वैदिक धर्मावलम्बी द्विजमात्रके लिए परम आवश्यक है। शक्ति रहते वेदान्तनिर्णय न करनेसे पाप लगता है *। उपर्युक्त मतभेद होनेपर जिज्ञासुको यह सन्देह होना अनिवार्य है कि पूर्वोक्त भाष्यकारोंके मतोंमें से कौन-सा मत सूत्रकार भगवान् श्रीवेदव्यासजीका अभिमत है। उक्त सन्देहकी निवृत्तिके लिए निर्णय किया जाता है कि केवल अद्वैतमें ही व्यासजीका तात्पर्य है।

किसीको आशङ्का हो सकती है कि अनेक पौराणिक वचनोंसे यह सिद्ध है कि भाष्यकार भगवान् श्रीशङ्कराचार्य ज्ञानराशि भगवान् श्रीशङ्करके अवतार थे † और उनका भाष्य श्रीसूतसंहितामूलक है ‡ अतएव भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीके अभिमत केवल अद्वैतमें ही व्यासजीका तात्पर्य है, यह बात दिनके समान अत्यन्त स्फुट प्रतीत हो रही है; फिर उसके निर्णयके लिए किसी प्रकारके प्रयत्नकी क्या आवश्यकता है?

यद्यपि यह आशङ्का किसी अंशमें ठीक है, तथापि इस विषयका निर्णय करना काकदन्तगणना या जलताड़नके समान निष्फल नहीं है, क्योंकि

---

* स्थापयध्वमिमं मार्गं प्रयत्नेनापि हे द्विजाः।
स्थापिते वैदिके मार्गे सकलं सुस्थिरं भवेत्॥
यो हि स्थापयितुं शक्तो न कुर्यान्मोहितो नरः।
तस्य हन्ता न पापीयानिति वेदान्तनिर्णयः॥
यः स्थापयितुमुद्युक्तः श्रद्धयैवाक्षमोऽपि सन्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः साक्षाज्ज्ञानमवाप्नुयात्॥
यस्तु विद्याभिमानेन वेदमार्गप्रवर्तकम्।
छलजात्यादिभिर्जीयात् स महापातकी भवेत्॥ (स्कन्दपुराण)

† द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने!।
चतुर्भिः सह शिष्यैस्तु शङ्करोऽवतरिष्यति॥

‡ तामष्टादशधा दृष्ट्वा शङ्करः सूतसंहिताम्।
चक्रे शारीरकं भाष्यं सर्वश्रुतिमनोहरम्॥

अनेक पौराणिक वचनोंसे यह भी प्रतीत होता है कि आचार्य रामानुज शेषावतार थे* और 'भगवान् बोधायननिर्मित विस्तृत ब्रह्मसूत्रवृत्तिका ही पूर्व आचार्योंने संक्षेप किया था उन्हींके मतका अवलम्बन करके हम सूत्रके अक्षरोंका व्याख्यान करेंगे— 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि उनके भाष्यसन्दर्भसे उनके भाष्यको बोधायनवृत्तिमूलक जानने से श्रीरामानुजका अभिमत अर्थ ही व्यासतात्पर्यका विषय है, यह अर्थ भी किसीको प्रामाणिक प्रतीत हो सकता है, उसी प्रकार मध्वाचार्य भी वायुके अवतार कहे गये हैं † और उनका भाष्य उनके मतमें प्रसिद्ध ब्रह्मतर्कमूल-रामायणमूलक माना गया है, इसलिए मध्वाचार्यजीका सिद्धान्त ही व्यासजीका तात्पर्य है, यह भी किसीको प्रामाणिक प्रतीत हो सकता है एवं इसी भाँति भट्टभास्कर, यादवप्रकाश, श्रीकण्ठ, चित्सुख, चिद्विवरण, वल्लभ आदि भी, तत्-तत् मतोंमें प्रसिद्ध वचनोंसे, तत्-तत् देवताओंके अवतार माने गये हैं और उनके भाष्य भी तत्-तत् मतोंमें प्रसिद्ध तत्-तत् प्रमाणमूलक माने गये हैं, इसलिए उनका अभिमत ही व्यासजीका तात्पर्य है, यह बात भी प्रामाणिक प्रतीत हो सकती है। ऐसी अवस्थामें परस्परविरुद्ध अर्थके प्रतिपादक अनेक भाष्योंका अवलोकन करनेवाले मन्दबुद्धियोंको व्यासतात्पर्यके विषयमें सन्देह होना अनिवार्य है।

अब यहांपर विचार करना चाहिए कि व्यासतात्पर्यका निर्णय करनेमें सूतसंहिता, बोधायनवृत्ति और तन्मूलक भाष्य सभी प्रमाण हैं या अप्रमाण हैं अथवा कोई एक ही प्रमाण है? यदि सभी प्रमाण माने जायँ, तो मूल तत्त्व भिन्न-भिन्न हो जायगा। परन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे विरोध होगा। यदि सभीको अप्रमाण मानें, तो पूर्वोक्त भाष्यों द्वारा प्रतिपादनीय भेद या अभेद आदिमें से किसी एकमें अवश्य तात्पर्य रखनेवाले श्रुतिवचन और सूत्रोंमें भी परस्पर विरुद्धार्थबोधकत्वरूपसे अप्रमाणता आनेके कारण वेदान्तशास्त्रका उच्छेद हो जायगा। इसलिए तीसरा विकल्प ही अर्थात् कोई एक ही प्रमाण है, यह अवशिष्ट रहता है। परन्तु उनमें यही मत

---

* अनन्तः प्रथमं रूपं लक्ष्मणस्तु ततः परम्।
बलभद्रस्तृतीयश्च कलौ कश्चिद् भविष्यति॥

† प्रथमो हनूमान्नाम द्वितीयो भीमसेनकः।
पूर्णप्रज्ञस्तृतीयस्तु भगवत्कार्यसाधकः॥

प्रमाण है, इस प्रकार कोई निर्णय नहीं कर सकता। यदि कोई कहे कि भगवान् शङ्कराचार्य, भट्टभास्कर, यादवप्रकाश, श्रीकण्ठ, रामानुज, मध्व, चिद्विवरण, वल्लभ आदिके भाष्य-ग्रन्थोंका अवलोकन करके पूर्वमीमांसोक्त न्यायसे उपबृंहित तत्-तत् भाष्योंमें उक्त तात्पर्यनिर्णायक उपक्रमोपसंहार आदि हेतुओंसे युक्त श्रुति और सूत्रके स्वारस्यके बलाबलके अनुसार इसी अर्थमें व्यासजीका तात्पर्य है यह निर्णय किया जा सकता है, अतः जिसका भाष्य उक्त रीतिसे निर्णीत होगा, उसीका भाष्य प्रमाण माना जायगा। तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्वोक्त तात्पर्यनिर्णायक हेतुओंसे युक्त श्रुति-सूत्र-स्वारस्यके बलाबलके अनुसार ही सम्पूर्ण भाष्यकारोंने अपने-अपने अभिमत अर्थको व्यासजीका तात्पर्यविषयीभूत कहा है। ऐसी परिस्थितिमें विशेषरूपसे बलाबलका निर्णय करना सम्भव नहीं है।

हम लोग ही श्रुति और युक्तिके स्वारस्यके बलाबलके अनुसार यही अर्थ व्यासतात्पर्यविषय है, यह निश्चय कर सकते हैं; यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इस अवस्थामें यह विचार करना आवश्यक होता है कि क्या केवल युक्तिसे यही अर्थ व्यासजीके तात्पर्यका विषय है, यह निर्णय करते हैं। अथवा केवल श्रुतिके बलसे या श्रुतिसहकृत युक्तिके बलसे? इनमें प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें भी यह विकल्प उठता है कि क्या आप उपक्रमोपसंहार आदिरूप युक्तिके बलसे व्यासतात्पर्यका निर्णय करते हैं या अनुमानविशेषरूप केवल युक्तिसे परतत्त्वका निश्चय करके उसीके द्वारा यह अर्थ व्यासतात्पर्यका विषय है, यह निश्चय करते हैं? इसमें पहला पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि उपक्रमोपसंहार आदिरूप युक्ति श्रुतिकी सहकारिणी है, अतएव तीसरे विकल्पसे अभिन्न होनेके कारण केवल युक्तिमात्रसे यह पक्ष ही नहीं उठ सकता। दूसरा पक्ष भी नहीं ठहर सकता; क्योंकि 'नैषा तर्केण मतिरापनेया', 'तर्काप्रतिष्ठानात्'।

'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥'

इत्यादि श्रुति-सूत्र-वृद्ध-वचनोंसे केवल वेदान्तों द्वारा प्रतीत होनेवाले परम तत्त्वके निर्णयमें केवल युक्तिका खण्डन किया गया है, अतएव केवल युक्तिसे ही

यही अर्थ व्यासजीका तात्पर्यविषय है, यह कहना शशशृङ्गके समान अश्रद्धेय है। प्रथमोक्त तीन विकल्पोंमें दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अहं ब्रह्मास्मि' तत्त्वमसि, 'अयमात्मा ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यादि अनेक अभेद श्रुतियों और 'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा' 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि भेदश्रुतियोंके समानरूपसे विद्यमान रहते केवल श्रुतिसे यही पक्ष व्यासतात्पर्यविषयीभूत है, यह निर्णय नहीं हो सकता। अतएव पहले ही कहा जा चुका है कि

'वेदान्तार्थस्तु सर्वेषां नाना भाति न चैकधा।
अतस्तेन कथं ब्रह्म जानात्यल्पमतिः पुमान्॥'

एवं तीसरा पक्ष भी ठीक है नहीं है, क्योंकि उपक्रमोपसंहार आदि युक्तिसहकृत श्रुतिबलसे ही तत्-तत् भाष्योंमें सभी भाष्यकारोंने अपने-अपने अभिमत अर्थको ही व्यासजीका तात्पर्यविषय कहा है, अतएव उनका पर्यालोचन करके हमारी अपेक्षा सर्वथा प्राचीन ग्रन्थकारोंने भी युक्तिसहकृत श्रुतिबलसे प्रतिवादियोंको चुप करके सुचारुरूपसे यही अर्थ व्यासतात्पर्यका विषय है, यह निर्णय नहीं किया है, तो भला अपने-अपने मतको जाननेवाले अल्पज्ञ हम लोग युक्तिसहकृत श्रुतिबलसे यही अर्थ व्यासजीके तात्पर्यका विषय है, ऐसा निर्णय कैसे कर सकते हैं?

यदि कोई कहे कि ऐसी परिस्थितिमें व्यासजीके तात्पर्यविषयीभूत अर्थके निर्णयमें दत्तचित्त किसी पुरुषश्रेष्ठ राजाकी सभामें जाकर एक दिनसे लेकर एक मास तक द्वैत और अद्वैत का विचार होनेपर उक्त पक्षोंमें मध्यस्थ जिसे प्रमाणरूपसे घोषित कर दे, उस मतका स्वीकार किया जाय, इस प्रकार शर्त बांधकर उस सभामें स्थित विद्वान् मध्यस्थकी सन्निधिके सहारे श्रुतियुक्तिके स्वारस्यके बलाबलके अनुसार यही अर्थ व्यासजीका अभिमत है, यह निर्णय किया जा सकता है? यह भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि पहले तो ऐसा कोई गुणी राजा ही नहीं है। यदि वह किसी प्रकार मिल भी गया, तो मध्यस्थका मिलना तो टेढ़ी खीर है। उसकी सन्निधिमें परतत्त्वका निर्णय करेंगे, यह एक प्रकारका मखौल ही ठहरा, क्योंकि मध्यस्थ वही हो सकता है, जो वादी और प्रतिवादी दोनोंमें से किसी पक्षमें भी यह मेरा पक्ष है, ऐसा अभिमान न रखता हो और उसके पक्षोंके बलाबलके निर्णयमें कुशल हो।

पहले यह विचार करना चाहिए कि उक्त मध्यस्थका लक्षण किनमें घटता है ? वेदबाह्य बौद्ध आदि सम्प्रदायमें प्रविष्ट व्यक्तियोंमें वह घटता है ? या सांख्य आदि शास्त्रोंमें निष्णात लोगोंमें ? या वेदान्तियोंमें ? पहला पक्ष तो किसी प्रकार युक्त नहीं है, क्योंकि बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि वेदबाह्य वेदको प्रमाण नहीं मानते, अतएव उपनिषद्का अध्ययन न करनेके कारण उपनिषत्में उक्त उपक्रमोपसंहार आदि षड्विध तात्पर्य-निर्णायक हेतुके स्वारस्यसे बलाबलके निर्णय करनेकी उनमें शक्ति ही नहीं है, इसलिए वे मध्यस्थ हो ही नहीं सकते। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि कपिल, कणाद, गौतम आदिके मतोंमें दीक्षित प्रौढ़ातिप्रौढ़ विद्वान् भी इस समय कहीं दीखाई ही नहीं देते; अतएव उन्हें मध्यस्थ बनानेकी कल्पना करना आकाशमें चित्र बनानेकी भाँति उपाहासास्पद ही है। यदि कोई मिल भी गया, तो जीवोंकी अनेकता, प्रपञ्चकी सत्यता एवं पर और क्षेत्रज्ञका भेद माननेवाला मैं हूँ, इस अभिमानसे अपने मतमें पक्षपाती होनेसे उसका मध्यस्थ होना भी अत्यन्त असंगत है। तीसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि वेदान्त-शास्त्रप्रवर्तक अनेक भाष्यकारोंके मतानुयायियोंमें यद्यपि भगवान् शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्व और श्रीकण्ठ इन चार ही मतोंके अनुयायियोंका विशेषतः आधिक्य है, तथापि उनमें परस्पर विरुद्ध भेद, अभेद आदिमेंसे किसी एकका अवलम्बन करनेसे भेदवादी और अभेदवादी इन दोनोंका श्रद्धेय पूर्वोक्त लक्षणलक्षित मध्यस्थ मिल ही नहीं सकता। परम्पराप्राप्त गुरु द्वारा उपदिष्ट अपने मतकी हानि होनेसे उनका दुराग्रह नहीं हटाया जा सकता। वे लोग वादी और प्रतिवादीके ज्ञानके तारतम्यका भले ही निर्णय कर लें, परन्तु तत्त्वनिर्णय तक पहुँचना उनकी शक्तिके बाहर है।

अतएव वादीके दौर्बल्यके बिना मतदौर्बल्य नहीं हो सकता है, यह लोकोक्ति चरितार्थ होती है। इससे निश्चय हुआ कि केवल युक्तिसे या केवल श्रुतिसे या युक्तिसहकृत श्रुतिसे मध्यस्थ विद्वान्की सन्निधिमें तत्-तत् वादियों द्वारा स्वीकृत कूट साक्षीके वाक्योंके सदृश सूतसंहिता, बोधायनवृत्ति आदिके आधारपर निर्मित भगवान् शङ्कराचार्य, रामानुज आदि भाष्यग्रन्थोंके पर्यालोचनसे यही अर्थ व्यासजीका अभिमत है, यह निर्णय कोई नहीं कर सकता।

यह अर्थ व्यासजीका अभिमत है, यह जाननेका केवल एक ही उपाय है

वह यह है कि जैसे स्तोत्रभाष्यमें हरि और हरमें से कौन देव सत्त्वगुणी हैं ऐसा सन्देह होनेपर—

'स्यान्नागरद्राविडवेसरं च क्रमेण वै सत्त्वरजस्तमांसि ।
महीसुरोर्वीपतिवैश्यकाश्च हरिश्च धाता हर आदिदेवः ॥'

इत्यादि मध्यस्थ शिल्पशास्त्रके वचनके बलसे विष्णु ही सत्त्वगुणी है यह वेदान्ताचार्यने निर्णय किया है और जैसे चतुर्वेदतात्पर्यसंग्रहमें शिव और नारायणमें से कौन नमस्कारमुद्राका अंगी है, ऐसा संशय होनेपर—

'वज्रिण्या मुद्रया शक्रं पद्मिन्या दर्शयेद्विधिम् ।
शङ्खिन्या केशवं रुद्रं शिरस्यञ्जलिमुद्रया ॥'

इस मध्यस्थ भरतशास्त्रके वचनके अनुसार

'या शङ्खिनी भवति शङ्कर वज्रिणी या
मुद्रा च या कमलिनी भरतोपदिष्टा ।
ताभिर्भवन्त्यभिनया विबुधान्तराणां
मौलिस्पृशा करपुटाञ्जलिमुद्रया ते ॥'

इससे शिवके लिए ही नमस्कारमुद्राका अङ्गीकार सुदर्शनाचार्यने निर्धारित किया है । वैसे ही यहांपर भी पूर्वोक्त भगवत्पाद शङ्कराचार्य, रामानुज आदि अनेक भाष्यकारोंके अभिमत अर्थोंमें से किस अर्थमें व्यासजीका तात्पर्य है, इस प्रकार सन्देह होनेपर एवं उसके साथ ही साथ निर्णयकी आकाङ्क्षा होनेपर हम लोगोंके भेदाभेदविवादमें तटस्थ कपिल, कणाद, गौतम, पतञ्जलि, जैमिनि आदि आस्तिक दार्शनिकोंके सूत्र, भाष्य वार्तिक और वृत्तिग्रन्थोंमें और पाशुपत, पाञ्चरात्र, बौद्ध, आर्हत चार्वाक आदि नास्तिक दार्शनिकोंके ग्रंथोंमें जब तक दूसरेके मतका खण्डन न किया जाय, तब तक अपने मतकी स्थापना नहीं हो सकती, इस न्यायके अनुसार अपने मतके स्थापन और परमतके खण्डन प्रस्तावमें कपिल, कणाद आदिने केवल अद्वैतमें ही व्यासजीका तात्पर्य है, यह निश्चय कर अनुवादपूर्वक महर्षि व्यासके मतका खण्डन किया है, अतएव यह निश्चित होता है कि अद्वैतमें ही श्रीव्यासजीका तात्पर्य है, कारण कि जब दो पक्षोंमें परस्पर वैमत्य होता है, तब साक्षीसे ही सत्य-असत्यकी

व्यवस्था होती है, * ऐसा नियम है—इसलिए अद्वैतका प्रतिपादन करनेवाली श्रीसूतसंहिताके आधारपर निर्मित भगवान् शङ्कराचार्यका भाष्य ही प्रमाण है, यह सिद्ध हुआ।

यदि कहें कि जीवोंकी अनेकता, प्रपञ्चकी सत्यता एवं पर और क्षेत्रज्ञका भेद माननेवाले कपिल, कणाद, गौतम आदि मध्यस्थ नहीं हो सकते है यह आप पूर्वमें कह आये हैं फिर यहांपर उनको मध्यस्थ कैसे मानते हैं ? ऐसा माननेसे आपके वचनका व्याघात होता है ? आपकी यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि कपिल, कणाद आदिकी भेद और अभेद अर्थकी श्रुतियोंके विचार करनेके अवसरपर मध्यस्थता न होनेपर भी व्यासजीके मतके अनुवाद और उसके खण्डनपूर्वक अपने मतके स्थापनके लिए व्यासजीके सिद्धान्तका उनको ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है और उनके सिद्धान्तमें उन्हें अपने पक्षका कोई अभिमान भी नहीं है इसलिए व्यासतात्पर्यविषयीभूत अर्थके विचारमें वे मध्यस्थ हो सकते हैं। अतएव अपने वचनके व्याघातकी शङ्काका यहांपर अवसर ही नहीं है।

( अपूर्ण )

---

* विप्रतिपत्तौ साक्षिनिमित्ता सत्यव्यवस्था। गौ० ध०

# सम्पादकीय दो शब्द

दयामय भगवान् श्रीविश्वनाथजीके असीम अनुग्रहसे अच्युततादात्म्यापन्न अच्युतके स्मारकरूपमें उदित हमारा 'अच्युत' अपने जीवनके ३ वर्ष सानन्द व्यतीतकर चौथे वर्षमें पदार्पण कर चुका है। अवस्थानुसार शारीरिक अवयवोंका उपचय और अपचय विधाताकी सृष्टिमें सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होता है, फिर अच्युत ही उससे क्यों वञ्चित रहता। इसे भी विधाताके अटल विधानका प्रसाद मिला। अतएव आज यह परिवर्तित रूपमें आपलोगोंके सम्मुख उपस्थित है।

अच्युतका उदय भगवान् भाष्यकारके एकान्त भक्त ब्रह्मीभूत श्रीअच्युत मुनिजीके स्मारकरूपमें हुआ था और आरम्भ भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीकी सर्वोत्कृष्ट कृति ब्रह्मसूत्रशङ्करभाष्यसे हुआ था। उसका लक्ष्य पहले भी उनके सिद्धान्तका अनुसरण करना था, आज भी वही है और भविष्यमें भी वही रहेगा। भगवान् शङ्कराचार्यके सिद्धान्तोंके विरोधी लेखोंके लिए 'अच्युत' में स्थान नहीं है। आचार्य मधुसूदनसरस्वती-सम्मत, साम्प्रदायिक-गन्धशून्य भक्तिविषयक लेखोंके लिए इसमें पर्याप्त स्थान है। अवसर-अवसरपर श्रीशङ्कराचार्यजीपर किये गये अनर्गल आक्षेपोंका यथोचित उत्तर देनेके लिए भी 'अच्युत' सदा कटिबद्ध है।

जिन सज्जनोंने हमारी प्रार्थनापर अपनी ओजस्विनी लेखनीसे प्रस्तुत गम्भीराशय लेख भेजनेकी महती कृपा की है, उनके हम अत्यन्त आभारी हैं और उन महानुभावोंसे प्रार्थना करते हैं कि सदा इसी भाँति 'अच्युत'पर कृपादृष्टि बनाये रक्खें और 'अच्युत'की लक्ष्यसिद्धिमें हमारी सहायता करनेकी कृपा करें।

विवर्तवादिनां क्रमानपेक्षणात्, कारणं तु मूलाविद्यैव । अथाऽपि तमो न रूपवद्द्रव्यम्, स्पर्शशून्यत्वात्, आकाशवत् इति चेद्, नः वायुर्न स्पर्शवान्, रूपशून्यत्वात्, आकाशवदित्याभासेन समानत्वात् प्रत्यक्षविरोधस्य तुल्यत्वात् ।

अथाऽऽलोकाभावे समारोपितं नीलरूपं गोचरयतीति तमःप्रत्यक्षस्याऽन्यथा गतिरुच्यते एवमपि हेतुरनैकान्तिकः—रूपवद्द्रव्यस्यैव धूमस्य चक्षुःप्रदेशादन्यत्र स्पर्शशून्यत्वात् । तत्र विद्यमान एव धूमस्पर्शोऽनुद्भूत इति चेत्,

---

उत्तर देते हैं कि ऐसा दोष नहीं है । विवर्तवादियोंके मतमें पदार्थकी उत्पत्तिमें द्व्यणुकादि क्रमकी अपेक्षा नहीं होती, उनके मतमें विवर्त्तका कारण तो मूला अविद्या ही है । यदि शङ्का हो कि अन्धकार ( पक्ष ), रूपवाला द्रव्य नहीं हो सकता ( साध्य ), स्पर्शशून्य होनेसे ( हेतु ), आकाशके तुल्य (दृष्टान्त), इस अनुमानसे अन्धकार रूपवान् द्रव्य सिद्ध नहीं हो सकता ? तो यह शङ्का भी ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त अनुमान—वायु स्पर्शवाला नहीं है, रूपरहित होनेसे, आकाशके तुल्य—इस अनुमानाभासके सदृश है, कारण कि दोनों अनुमानोंमें प्रत्यक्षविरोध तुल्य है ।

[ तात्पर्य यह है कि यदि आकाशके दृष्टान्तसे अन्धकारमें स्पर्शशून्यत्व हेतुसे रूपवद् द्रव्यत्वका अभाव सिद्ध करते हो, तो उसी आकाशको दृष्टान्त बनाकर रूपवत्त्वाभावको हेतु मानकर वायुमें स्पर्शवत्ताका अभाव सिद्ध क्यों न किया जाय । परन्तु यह किसीको अभीष्ट नहीं है, इसलिए इस दूसरे अनुमानको आभास अवश्य मानना चाहिए । इसीके तुल्य पहला अनुमान भी आभास ही है । यदि आप—"दूसरे अनुमानमें प्रत्यक्ष विरोध आता है, क्योंकि वायुमें स्पर्शवत्ताकी प्रत्यक्षसे उपलब्धि होती है इससे वह आभास है"—ऐसा कहें तो अन्धकारमें भी नीलरूपवत्ताकी प्रत्यक्षसे प्रतीति होनेसे पूर्व अनुमान भी प्रत्यक्षविरोधसे आभास ही है । ]

आलोक ( प्रकाश ) के अभावमें नीलरूपका आरोप किया जाता है । उस आरोपित नीलरूपसे अन्धकारमें रूपवत्ताकी प्रतीति होती है इस तरहके पूर्वपक्षीके प्रत्यक्षविरोधको दूर करनेपर भी स्पर्शशून्यत्वरूप हेतु तो व्यभिचारग्रस्त है ही, क्योंकि यद्यपि धूम रूपवान् ही द्रव्य है, तथापि आँखको छोड़कर और कहीं भी उसका स्पर्श नहीं होता । ऐसी अवस्थामें स्पर्शशून्यत्वरूप

तर्हि तमःस्पर्शोऽपि सन्नेव सर्वत्रानुद्भूत इति हेत्वसिद्धिः स्यात्। न च सतः सर्वत्रानुद्भवोऽसम्भावितः, आकरजे सुवर्णादौ सत एव स्वपरप्रकाशकभास्वररूपस्योष्णस्पर्शस्य च सर्वत्रानुद्भवदर्शनात्। तदेवं भावरूपतमोवादे न कोऽपि दोषः।

नन्वभाववादेऽपि तथा। उपचयाद्यवस्थानां प्रतियोग्यालोकोपाधिकत्वाद् नीलरूपस्याऽऽरोपितत्वादिति चेद्, मैवम्; दुर्निरूपत्वात्। तथा हि—किमालोकमात्राभावस्तमः, उतैकैकालोकाभावः, सर्वालोकाभावो वा। प्रथमद्वितीयपक्षयोः प्रागभाव इतरेतराभावः प्रध्वंसाभावो वा तम इति

---

हेतुसे रूपवत्ताका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कहो कि धूममें स्पर्श विद्यमान ही है किन्तु वह केवल चक्षुसे अन्यत्र अनुद्भूत रहता है, तो यह कहना अन्धकारमें भी समान ही है, क्योंकि अन्धकारमें स्पर्श है परन्तु सर्वत्र अनुद्भूत है, इससे हेतुकी असिद्धि स्पष्ट है। यदि शङ्का हो कि विद्यमान वस्तुका सर्वत्र उद्भूत न होना सम्भव नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुवर्ण तैजस द्रव्य है इससे उसमें उष्ण स्पर्श और प्रकाशका होना अनिवार्य है परन्तु इन दोनों गुणोंकी कहींपर भी खनिज सुवर्णादिमें उद्भूतता नहीं देखी जाती है, इससे यह सिद्ध हुआ कि विद्यमान वस्तु भी सर्वत्र उद्भूत नहीं रह सकती है। इससे निष्कर्ष निकला कि अन्धकारको भावरूप रूपवान् द्रव्य माननेमें कोई दोष नहीं है।

यदि शङ्का हो कि अन्धकारको अभावरूप माननेमें भी तो कोई दोष नहीं होता, क्योंकि इसमें वृद्धि और ह्रासकी प्रतीतिके कारण तो अभावरूप अन्धकारके प्रतियोगी आलोकके वृद्धि और ह्रास हैं, स्वतः उसमें वृद्धि और ह्रास नहीं है (आलोककी वृद्धिसे अन्धकारका ह्रास और आलोकके ह्राससे अन्धकारकी वृद्धि मालूम होती है, यह अभिप्राय है) और उसमें प्रतीयमान नीलरूप तो आरोपित ही है, यह शङ्का भी सङ्गत नहीं हो सकती, क्योंकि यह दुर्निरूप है, अर्थात् तेजका अभाव अन्धकार है इसका निरूपण करना कठिन है। दुर्निरूपताको दिखाते हैं—क्या आलोकमात्र (आलोकसामान्य) का अभाव अन्धकार है? या एकका (किसी भी आलोकविशेषका) अभाव अन्धकार है अथवा सब आलोकोंका अभाव अन्धकार है? इन तीनों विकल्पोंमें प्रथम और द्वितीय पक्ष मानें तो हम प्रश्न करेंगे कि यहाँ अभावपदसे प्रागभाव, अन्योन्याऽभाव या प्रध्वंसाभावका ग्रहण है? इनमें से किसी भी अभावका ग्रहण

**दुर्भणम्, सवितृकरसंतते देशे प्रदीपजन्मनः प्राग्वा जाते वा प्रदीपे दीपनाशे वा तमोबुद्ध्यभावात् । तृतीये सर्वालोकसंनिधानमन्तरेण न निवर्तेत ।**

**रूपदर्शनाभावस्तम इत्यप्ययुक्तम्, बहलान्धकारसंवृतापवरकमध्यस्थितस्य बहीरूपदर्शनान्तस्तमोदर्शनयोर्युगपदेव भावात् । तस्मात् नाभावस्तम इति दृष्टान्ते नाऽस्त्युक्तोपाधिः ॥४॥**

---

नहीं हो सकता, क्योंकि सूर्यकी किरणोंसे प्रकाशमान देशमें दीपक जलानेसे पूर्व ( जब कि दीपके प्रकाशका प्रागभाव है ) या जला लेनेपर ( दीपक-प्रकाशके साथ अन्धकारकी अन्योन्याभावदशामें ) अथवा दीपके बुझ जानेपर ( उसकी ध्वंसाभावदशामें ) भी अन्धकार नहीं देखा जाता । तृतीय पक्ष भी नहीं बनता, क्योंकि यदि सम्पूर्ण आलोकोंका अभाव अन्धकार है, तो जब तक सम्पूर्ण आलोकोंका सन्निधान न हो जायगा, तब तक अन्धकार निवृत्त ही न हो सकेगा [ क्योंकि सम्पूर्ण आलोकोंका अभावरूप ही अन्धकार है । अभावरूप अन्धकारकी निवृत्ति अभावाऽभावरूप होनेसे प्रतियोगिस्वरूप है । प्रकृतमें प्रतियोगी सर्वालोक है, एक आलोकके न रहनेसे भी सर्वालोक नहीं हो सकता प्रतियोगीकी सत्ताके लिए सब आलोकोंके सन्निधानकी आवश्यकता है, यह भाव है ] ।

मीमांसक-मतका खण्डन करते हैं कि अन्धकारको रूपदर्शनका अभाव कहना भी अयुक्त है, क्योंकि घने अन्धकारसे व्याप्त घरमें बैठे हुए पुरुषको बाहर रूपका दर्शन और अन्दर अन्धकारका दर्शन एक-साथ ही होता है । [ तात्पर्य यह है कि यदि रूपदर्शनाऽभावको अन्धकार मानें, तो अन्धकार रहते रूपका दर्शन न होना चाहिए, क्योंकि व्याप्ति है कि जिस वस्तुके अभावकी बुद्धि होती है, उस वस्तुकी बुद्धि नहीं हो सकती, इसलिए रूपदर्शनाभाव बुद्धिके रहते रूपदर्शनबुद्धि कैसे हो सकती है ? यदि कहा जाय कि जहांपर ( घरके अन्दर ) रूपदर्शनाभावरूप तम है वहांपर रूपदर्शन नहीं होगा, इससे कोई विरोध नहीं है, तो ऐसा सङ्कोच करनेपर भी निर्वाह न होगा, क्योंकि तब हम प्रश्न करेंगे कि वह अभाव प्रागभाव आदिमें से कौनसा अभाव है ? इनमेंसे कोई भी नहीं बन सकेगा, क्योंकि यत्किञ्चित् रूपदर्शनके प्रागभाव, अन्योन्याभाव या ध्वंसके रहनेपर भी सौरालोकवाले देशमें अन्धकार नहीं देखा जाता । यदि अन्धकार सकलरूपदर्शनाभावरूप माना जाय,

नन्वेवमप्यन्योन्यतादात्म्यसामर्थ्याभावाख्यो भवदीयो मूलहेतुरनैकान्तिकः। 'इदं रजतम्' इत्यत्र भ्रान्तिस्थले पुरोवर्त्तिरजतयोर्विविक्तयोस्तादात्म्यसामर्थ्याभावेऽपि तादात्म्यसंदर्शनादिति चेद्, न; तत्र सामर्थ्यसद्भावेन हेत्ववृत्तेः। तत्सामर्थ्यं च सम्यग्रजतस्थले पुरोवर्त्तिरजतयोर्वास्तवतादात्म्यदर्शनादवगन्तव्यम्। न चैवमात्मानात्मनोरपि क्वचिद्वास्तवतादात्म्ये सति तत्सामर्थ्यसम्भवादसिद्धो हेतुरिति वाच्यम्, वास्तवतादात्म्यस्य तयोः क्वाऽपि दुःसंपादत्वात्। तथा हि—किं द्रष्टुर्दृश्यतादात्म्यमुच्यते

---

तो पूर्वोक्त रीतिसे सम्पूर्णरूपदर्शनोंके सन्निधानके बिना अन्धकारकी निवृत्ति ही नहीं हो सकेगी।] इसलिए तम अभावरूप नहीं है इससे दृष्टान्तमें उक्त उपाधि नहीं है ॥४॥

पूर्वोक्त इन तीनों अनुमानोंसे प्रतीति द्वारा और चौथे अनुमानसे स्वरूपतः आपने यह सिद्ध किया है कि आत्मा और अनात्मामें परस्पर अध्यास नहीं है अर्थात् उनके परस्पर तादात्म्याध्यासका अभाव है—इस साध्यका प्रधान हेतु 'एकका दूसरेके साथ तादात्म्य हो जानेकी सामर्थ्यका अभाव' जो आपने कहा है, वह व्यभिचारग्रस्त है। देखा जाता है कि 'यह चाँदी है' इस भ्रमात्मक प्रतीतिमें सामने पड़ा हुआ शुक्तिका टुकुड़ा और चाँदी—इन दोनोंके भिन्न-भिन्न होनेसे परस्पर तादात्म्यकी सामर्थ्य न रहनेपर भी तादात्म्यभ्रम होता है। ऐसी अवस्थामें पूर्वोक्त हेतुसे परस्परतादात्म्याध्यासका अभाव कैसे सिद्ध होगा? इस प्रकार शङ्का होती है। ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भ्रमस्थलमें दोनों ( सामनेवाला इदम् और चाँदी ) के परस्पर तादात्म्यकी सामर्थ्य होनेसे हेतु नहीं है। वह सामर्थ्य बाजारके सच्चे चाँदीके टुकड़ेमें स्पष्ट है, क्योंकि जिस प्रकार भ्रमस्थलमें 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रतीतिसे इदम् (यह) का और रजतका तादात्म्य होता है उसी प्रकार 'इदं रजतम्' (यह रजत है) सत्यरजतस्थलमें भी दोनोंका तादात्म्य है, तब किस आधारपर कहा जा सकता है कि सामने पड़े हुए शुक्तिके टुकुड़े और रजत इन दोनोंमें परस्पर तादात्म्य-सामर्थ्यका अभाव है। यदि शङ्का हो कि इसी प्रकार आत्मा और अनात्माका भी कहींपर सत्य तादात्म्य होगा, अतः उनमें तादात्म्यसामर्थ्यका सम्भव होनेसे हेतु असिद्ध है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा और अनात्मा का परस्पर सत्य तादात्म्य कहींपर भी नहीं हो सकता है—देखो, आत्मा द्रष्टा है

**दृश्यस्य वा द्रष्टृतादात्म्यम् ? आद्येऽपि न तावत् स्वाभाविकम्, चिदेकरसे द्रष्टरि दृश्यांशासम्भवात्; अन्यथा कर्मकर्तृभावेन तादात्म्यानुपपत्तेः। आगन्तुकत्वेऽपि किं द्रष्टा स्वयमेव दृश्यांशाकारेण परिणमते उत हेतुबलात् ? उभयमप्यसङ्गतम्, द्रष्टुर्निरवयवत्वात्। नहि निरवयवमाकाशं स्वतो वा**

और अनात्मा दृश्य है, ऐसी परिस्थितिमें क्या द्रष्टाका दृश्यके साथ तादात्म्य कहते हो या दृश्यका द्रष्टाके साथ तादात्म्य कहते हो ? यदि प्रथम पक्ष अर्थात् द्रष्टाका दृश्यके साथ तादात्म्य कहते हो, तो विचार करना चाहिए कि यह तादात्म्य स्वाभाविक है या आगन्तुक (किन्हीं दूसरे कारणोंसे प्राप्त) है ? स्वाभाविक तो उनका तादात्म्य हो नहीं सकता, क्योंकि आत्मा चिदेकरस—शुद्धचिद्रूप—है, अतः उसमें दृश्यत्वांश रह ही नहीं सकता। यदि यह न मानो, तो कर्तृकर्मरूप होनेसे* तादात्म्यकी उपपत्ति ही न होगी [ दृश्य कर्म है और द्रष्टा कर्ता है, यह तभी हो सकता है, जब द्रष्टा और दृश्य भिन्न-भिन्न हों, अन्यथा नहीं, यह भाव है]। यदि आप स्वसम्मत तादात्म्यको आगन्तुक मानें, तो प्रश्न होता है कि क्या द्रष्टा स्वतः दृश्याकारमें परिणत होता है, या किसी हेतुके बलसे ? ये दोनों ही पक्ष ठीक नहीं हैं, क्योंकि द्रष्टा निरवयव है, [ अतः उसका स्वतः या किसी कारणसे

* "परसमवेतक्रियाजन्यफलशालित्वं कर्मत्वम्" यह कर्मका लक्षण है। इसमें परपदसे कर्मसे भिन्न कर्त्ता लेना चाहिए, इसलिए परका अर्थ कर्ता हुआ "कर्तामें समवायसम्बन्धसे रहनेवाली क्रियासे उत्पन्न हुआ जो फल उसका आश्रय कर्म कहलाता है"। इस लक्षणमें क्रियाकी अपेक्षासे परपदका अर्थ कर्ता अप्रधान है और कर्म क्रिया और कर्ता दोनोंकी अपेक्षासे प्रधान है। इसलिए एकमें ही गुण और प्रधान भाव नहीं हो सकता। यद्यपि "यो देवदत्तो गच्छति तं पश्यामि" (जो देवदत्त जा रहा है उस देवदत्तको मैं देखता हूं) यहांपर एक ही देवदत्तमें गमन और दर्शनके प्रति गुण और प्रधान भाव प्राप्त है, तथापि एक ही क्रियामें एक को ही गुणप्रधानभाव नहीं बन सकता है, यह कर्तृकर्मभावविरोधका तात्पर्य है।

और "सच्च त्यच्चाऽभवत्" (वह ब्रह्म सत् और त्यत् जगत् हो गया) इत्यादि श्रुति तो अविद्यात्मक परिणाम दिखाती है न कि वास्तव परिणाम जो उत्तर पक्षमें स्पष्ट होगा। "देवदत्तो यज्ञदत्तं जानाति" (देवदत्त यज्ञदत्तको जानता है) इस प्रतीतिसे जैसे दो द्रष्टाओंका भी परस्पर विषयिविषयभाव देखा गया है, वैसे ही जड दृश्यके भी विषयी और विषय दोनों बन जानेसे समान होनेमें भी क्या हानि है ? यह कुतर्क भी आपात रमणीय है, क्योंकि प्रत्यगात्मा प्रत्यक्षका विषय नहीं है, किन्तु परोक्षवृत्तिसे वेद्य होनेसे अनुमेय है। अब विषयीके समान होने दृश्य भी अनुमेय ही रह जायगा। बहिरिन्द्रिय जन्य प्रत्यक्षका विषय नहीं होगा।

**कारणान्तराद्वा सावयवाकारेण परिणममानं दृष्टम् । दृश्यस्य धर्मिणो द्रष्ट्रा प्रतियोगिना तादात्म्यमित्यस्मिन् द्वितीयेऽपि पक्षे द्रष्टृत्वस्य स्वाभाविकत्वे दृश्यत्वं हीयेत । अंशतो दृश्यत्वमपि स्वस्याऽस्तीति चेत् , तर्हि कर्मकर्तृत्वविरोधः । आगन्तुकत्वेऽपि किं दृश्यं स्वयमेव चिद्रूपेण परिणमते उताऽऽत्मचैतन्यं स्वस्मिन् संक्रामयति । नाऽद्यः, जड़जन्यस्य कार्यस्य चिद्रूपत्वासम्भवात् । नहि जड़ाया मृदः परिणामो घटः चिद्रूपो दृष्टः । न द्वितीयः; आत्मचैतन्यस्य सर्वगतस्य वस्तुतः प्रवेशायोगात् । तदेवं क्वाऽप्यत्यन्तदुःसंपादवास्तवतादात्म्ययोश्चिदचितोस्तत्सामर्थ्यासम्भवेन हेतुसिद्धेर्मध्यानुमानं सुस्थम् । ततो मूलानुमानसिद्धेरध्यासाभावः सुस्थितः ।**

---

दृश्याकारमें परिणाम नहीं हो सकता है ] जैसे कि निरवयव आकाशका किसी भी प्रकार सावयत्वरूपसे परिणाम नहीं देखा जाता । दृश्यका द्रष्टाके साथ तादात्म्य है अर्थात् दृश्य द्रष्टाके आकारमें परिणत होता है, यह दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस पक्षमें दृश्यका द्रष्टाके आकारमें परिणत होना यदि स्वाभाविक है, तो द्रष्टा और दृश्य दोनोंके समान हो जानेसे उसका दृश्यत्व ही नष्ट हो जायगा । यदि अंशत दृश्यत्व माना जाय, तो पूर्वोक्त कर्तृकर्मविरोध होगा, आगन्तुक मानें, तो क्या स्वयं ही दृश्य द्रष्टाके आकारमें परिणत होता है, या अपनेमें आत्मचैतन्यका सङ्क्रमण कराता है । पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि जड़का परिणामरूप कार्य चैतन्यात्मक नहीं हो सकता, कारण कि जड़ मिट्टीका कार्य घट चैतन्यरूप नहीं देखा जाता । दृश्य चैतन्यको ही अपनेमें सङ्क्रान्त कर अपना अंश बना लेता है, यह द्वितीय पक्ष भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि सर्वत्र व्यापक चैतन्यका स्थलविशेषमें सङ्क्रमण भी नहीं हो सकता । इस रीतिसे जिनका कहीं भी सत्य तादात्म्य उपपन्न नहीं हो सकता, ऐसे आत्मा और अनात्माकी तादात्म्यसामर्थ्य न होनेसे हेतुकी ( तादात्म्यसामर्थ्यके अभावकी ) सिद्धि हो जानेसे द्वितीय अनुमान की ( विमतौ तादात्म्यशून्यौ इत्यादि अनुमानकी ) उपपत्ति हो सकती है, और इसीसे मूलभूत प्रथम अनुमानकी ( 'आत्मानात्मानौ इतरेतरतादात्म्यध्यासरहितौ' इत्यादि अनुमानकी ) सिद्धि हो जानेसे अध्यासका अभाव सिद्ध हो ही जाता है ।

मा भूद् धर्मिणोस्तादात्म्याध्यासः। तथाप्यात्मधर्माणामनात्मनि संसर्गाध्यासोऽस्तु। न च चिदेकरसस्याऽऽत्मनो धर्मासम्भवः; आनन्दविषयानुभवनित्यत्वादीनां सत्त्वात्। यद्यपि एते स्वरूपभूता एवाऽऽत्मनः, तथाप्यन्तःकरणवृत्त्युपाधौ नानेवाऽवभासन्त इति तेषां धर्मत्वमुपचर्यते। न च धर्मिणं विहाय धर्माणां स्वातन्त्र्येणाऽध्यासासम्भवः, जपाकुसुमसंनिधौ लोहितः स्फटिक इत्यादौ धर्ममात्राध्यासदर्शनात्। नैतत् सारम्; धर्माणां स्वातन्त्र्यायोगात्। स्फटिकेऽपि प्रतिबिम्बितजपाकुसुमाश्रितमेव लौहित्यं प्रतीयते न तु स्वातन्त्र्येण। तस्मात् नाऽस्ति धर्माणामप्याश्रयव्यत्यासेन संसर्गा-

---

यदि शङ्का हो कि आत्मा और अनात्मा रूप धर्मियोंका परस्पर तादात्म्याध्यास उक्त युक्तिसे भले ही न हो, परन्तु आत्माके धर्मोंका अनात्मामें अध्यास हो सकता है ? यदि कहो कि आत्मा तो चिदेकरस है, अतः उसमें कोई धर्म ही नहीं रह सकते हैं, इसलिए उसके धर्मोंका अध्यास नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मामें आनन्द और विषयका अनुभव ( ज्ञान ), नित्यत्व आदि धर्म विद्यमान हैं। यद्यपि ये पूर्वोक्त आनन्द आदि आत्माके स्वरूपभूत हैं, धर्म नहीं हैं, तथापि अन्तःकरणकी वृत्तिरूप उपाधिके होनेपर अनेक-से भासते हैं, अतः उनमें ( आनन्द आदिमें ) आत्मधर्मत्वका उपचारसे ( अमुख्यरूपसे ) व्यवहार होता है। यदि फिर शङ्का हो कि धर्मीके अध्यासके बिना धर्मोंका स्वतन्त्ररूपसे अध्यास नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जपाकुसुमकी सन्निद्धि होनेपर ( 'स्फटिक रक्त है' इत्यादि अध्यासस्थलमें धर्मीका अध्यास न होनेपर भी जपाकुसुम और स्फटिकके परस्परतादात्म्याध्यास न होनेपर भी ) केवल धर्मका अध्यास देखा जाता है। [ अतः आत्मा और अनात्मारूप धर्मियोंका परस्पर तादात्म्याध्यास न होनेपर भी उनके धर्मोंका अध्यास हो सकता है, यह पूर्वपक्ष बन सकता है। ] इसका समाधान यह है कि यह पूर्वपक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि धर्मीके अध्यासके बिना स्वतन्त्ररूपसे धर्मोंका अध्यास नहीं हो सकता। स्फटिक रक्त है, इत्यादि स्थलमें भी स्फटिकमें प्रतिबिम्बित जपाकुसुमगत रक्तिमाका ही अध्यास होता है, स्वतन्त्ररूपसे नहीं, अतः आश्रयके अध्यासके बिना धर्मोंका संसर्गाध्यास नहीं हो सकता है। धर्म और

ध्यासः। धर्मधर्मिणोरर्थयोरध्यासे निराकृते तदविनाभूतो ज्ञानाध्यासोऽपि निराकृत एव। तस्मात् न युक्तिसहोऽध्यास इति।

अत्रोच्यते—किं युक्तिविरोधादवस्तुत्वमध्यासस्याऽऽपाद्यते किं वा वस्तुस्वरूपमेवाऽपलप्यते? नाऽऽद्यः; अनिर्वचनीयवादिनामस्माकमध्यासस्याऽवस्तुत्वयुक्तिविरोधयोरिष्टत्वात्। विरुध्यते ह्यात्मानात्माध्यासो युक्तिभिरित्येवानिर्वाच्यत्वमङ्गीक्रियते। अन्यथा तस्य वस्तुत्वमेवाऽभ्युपेयं स्यात्।

ननु तर्हि अपलपाम एवाऽध्यासम्—नाऽस्त्येवात्मानात्मनोरध्यासः; तत्सामग्र्यभावात्; लोके हि 'इदं रजतम्' 'अयं सर्पः' इत्यादावधिष्ठानाध्यस्यमानयोर्गुणावयवकृतं सादृश्यमध्याससामग्री, न चाऽसावत्रास्ति; आत्मनो

---

धर्मीरूप अर्थोंके अध्यासका निराकरण होनेसे तन्निबन्धन ज्ञानाध्यासका भी निराकरण हुआ ही समझना चाहिए, अतः अध्यासका किसी भी युक्तिसे समर्थन नहीं हो सकता है।

उक्त शङ्कापर कहा जाता है—क्या आप 'युक्तिविरोध होनेसे अध्यास नहीं मानना चाहिए' ऐसा कहते हैं, अथवा आपका यह अभिप्राय है कि अध्यास कोई वस्तु ही नहीं है। यदि पूर्व पक्ष अर्थात् युक्तिविरोधसे अध्यासको वस्तु न मानना, यह आपको अभीष्ट है, तो ठीक नहीं है, क्योंकि अनिर्वचनीयवादका अवलम्बन करनेवाले हमारे ( वेदान्तियोंके ) मतमें अध्यासको अवस्तु ( वस्तु नहीं है, ऐसा ) कहना और युक्तिविरोध दिखाना अभीष्ट ही है। कारण कि आत्मा और अनात्माका परस्परात्मतारूप अध्यास युक्तियोंसे विरुद्ध है; इसीसे तो हम उस अध्यासकी अनिर्वचनीयताका स्वीकार करते हैं ( मिथ्या मानते हैं )। यदि ऐसा न होता, तो अध्यासको वास्तविक ही मानना पड़ता।

अब रहा दूसरा पक्ष—हम अध्यास ही नहीं मानते अर्थात् आत्मा-अनात्मा दोनों भिन्न ही हैं इनका अध्यास हो ही नहीं सकता, क्योंकि उक्त अध्यासकी सामग्री नहीं है। लोकमें 'इदं रजतम्' ( यह चाँदी है ), 'अयं सर्पः' (यह साँप है) इत्यादि भ्रमस्थलमें गुण या अवयवोंके द्वारा अधिष्ठान और अध्यस्यमान दोनोंके सादृश्यकी प्रतीति होना अध्यास ( भ्रम ) की सामग्री है, वह सामग्री

**निर्गुणत्वान्निरवयवत्वाच्च । न च वाच्यम्—'लोहितः स्फटिकः' इत्यत्राऽसत्येवोक्तसादृश्येऽस्त्यध्यास इति; तत्र सोपाधिकभ्रमत्वेन सादृश्यानपेक्षणात् । लौहित्याश्रयभूतं संनिहितं जपाकुसुममुपाधिस्तस्य स्फटिके लौहित्यावभासनिमित्तत्वात् । नन्वेवं कर्तृत्वाद्याश्रयं संनिहितमहङ्कारमुपाधिं कृत्वाऽऽत्मनि कर्तृत्वादिकमध्यसितुं शक्यमिति चेत्, तर्ह्यस्तु कथंचित् कर्तृत्वाद्यध्याससम्भवस्तथाप्यात्मन्यहङ्कारादिशरीरान्तधर्म्यध्यासो निरुपाधिको न सम्भवत्येव, सादृश्याभावादिति चेत्, तदेतदसारम्; गुणैरवयवैश्च शून्यस्याऽपि गन्धस्य 'केतकीगन्धसदृशः सर्पगन्धः' इत्यादौ यथा सौगन्ध्यधर्मेण सादृश्यम्; तथाऽऽत्मनोऽपि पदार्थत्वधर्मेण सादृश्य-**

---

प्रकृत आत्मा और अनात्मामें नहीं है, क्योंकि आत्मा निर्गुण और निरवयव है। [शुक्ति-रजत या रज्जुसर्प सावयव और सगुण हैं; अतः उनका अवयवकृत और गुणकृत सादृश्य बन सकता है।] यदि शङ्का हो कि 'लोहितः स्फटिकः' (लाल स्फटिक है) इस स्थलमें सादृश्यके न रहनेपर भी अध्यास होता है, इससे अध्यासमें सादृश्यकी अपेक्षा नहीं है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त दृष्टान्तमें ( 'लोहितः स्फटिकः' इत्यादिमें) उपाधिके द्वारा अध्यास—भ्रम—होनेसे सादृश्यकी अपेक्षा नहीं होती है। लौहित्यका आश्रयभूत निकटस्थित जपाका फूल ही यहां उपाधि है; क्योंकि उस फूलका सन्निधान होना ही स्फटिकमें लौहित्यकी ( लालिमाकी ) प्रतीतिका हेतु है। यदि शङ्का हो कि कर्तृत्व आदिका आश्रय तथा चिदात्माके सन्निहित अहङ्कार (अन्तःकरण) को ही उपाधि बनाकर आत्मामें अन्तःकरण प्रभृति अनात्माके कर्तृत्व आदि धर्मोंका अध्यास कर सकते हैं? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस अवस्थामें भी कर्तृत्व आदि सोपाधिक अध्यासका सादृश्यके बिना किसी-न-किसी प्रकार सम्भव होनेपर भी आत्मामें अहङ्कारसे लेकर शरीरपर्यन्त धर्मियोंका तादात्म्याध्यास, जो कि निरुपाधिक है, सादृश्य न होनेसे नहीं ही बन सकता, अतः इन सब कारणोंसे अध्यासको न मानना ही उचित है? यह शङ्का ही सारहीन है, क्योंकि जैसे गुण और अवयवोंसे शून्य गन्धका भी 'केतकीके (केवड़ेके) गन्धके सदृश सर्पका गन्ध है' इस प्रतीतिमें सुगन्धसामान्यसे सादृश्य देखा जाता है, वैसे ही आत्मा और अनात्माके भी पदार्थत्वसामान्यसे सादृश्यका सम्भव है। [ अतः सामग्रीका अभाव न होनेसे अध्यासमें

सम्भवात् । चैतन्यैकरसे धर्मः कोऽपि वस्तुतो न सम्भवतीति चेत्; तर्हि मा भून्निरुपाधिकभ्रमं प्रति सादृश्यस्य सामग्रीत्वम् । सादृश्यमन्तरेणैव 'पीतः शङ्खः' इति निरुपाधिकभ्रमदर्शनात् । अथ तत्र रागपित्तोद्रेककाचकामलादि सामग्र्यन्तरमस्ति; अस्त्येव तर्ह्यत्राऽप्यविद्याख्या सामग्री ।

ननु ज्ञानाभावत्वेन भावरूपत्वेन च विप्रतिपन्नाया अविद्यायाः सामग्रीत्वाङ्गीकारात् वरमध्यासापलाप एवेति चेत्, मैवम्; प्रत्यगात्मसत्त्व-

---

कुछ बाधा नहीं है ? । ] यदि शङ्का हो कि चैतन्यैकरस आत्मामें वस्तुतः किसी धर्मका सम्भव नहीं है, [ तब सादृश्यादि धर्म कैसे रह सकेंगे ?) तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि निरुपाधिक भ्रममें सादृश्य सामग्री ( कारण ) नहीं माना जाता । कारण कि सादृश्यके न रहते भी 'पीतः शङ्खः' ( पीला शङ्ख ) ऐसा निरुपाधिक भ्रम देखा जाता है । यदि शङ्का हो कि 'पीतः शङ्खः' ( पीला शङ्ख ) इस अध्यासभ्रममें पित्तके बढ़ जानेसे नेत्रगत कामला, काच आदि अन्यान्य दोषरूप सामग्री उपस्थित है, अतः उसीसे 'पीतः शङ्खः' आदि अध्यास उपपन्न होंगे ? तो इसका भी उत्तर देते हैं कि प्रकृत आत्मा और अनात्माके अध्यासमें भी अविद्या सामग्री मौजूद ही है ।

वादी फिर शङ्का करता है कि अविद्याके बारेमें विवाद है अर्थात् वह ज्ञानाभावरूप है या भावरूप है, अतः इस तरह विवादग्रस्त अविद्याको अध्यासकी सामग्री माननेकी अपेक्षा अध्यासको ही न मानना अच्छा है । [ अभिप्राय यह है कि कारणके बिना अध्यास नहीं बन सकेगा और यदि अध्यास मानें तो उसका कारण भी मानना होगा—उसका दूसरा कोई कारण प्राप्त नहीं है परिशेषात् अविद्याको ही उसका कारण मानना होगा—अविद्या विवादास्पद वस्तु है । इस विवादका सामना एवं अपने सिद्धान्तका स्थापन करनेके लिए बड़े समारोहसे शास्त्रार्थ करना होगा । इतने कोलाहलकी अपेक्षा अध्यासको न मानना ही अच्छा है जब अध्यास ही नहीं माना जायगा तब किसके लिए विवाद होगा ] । वादीकी इस शङ्काका उत्तर देते हैं कि अध्यासका अपलाप नहीं कर सकते । केवल प्रत्यगात्माकी सत्ताका अवलम्बन करके उस चिदानन्दके आच्छादकरूपसे विद्यमान अनादिसिद्ध एवं प्रत्यक्षसे दिखाई देनेवाले अध्यासका अपलाप नहीं कर सकते । यदि प्रत्यक्षसिद्ध अध्यासका भी अपलाप किया जाय, तो प्रत्यगात्माका भी अपलाप करना होगा ॥

मात्रमुपजीव्य तदीयचिदानन्दाच्छादकत्वेन व्यवस्थितस्याऽनादेः प्रत्यक्षस्याऽपलापायोगात्। अन्यथा प्रत्यगात्माप्यपलप्येत।

कार्यस्याऽध्यासस्याऽनादित्वमयुक्तमिति चेद्, मैवम्; आत्मनि तावत्कर्तृत्वभोक्तृत्वरागादिदोषसंयोग एवाऽध्यासः। तत्र भोक्तृत्वाध्यासः कर्तृत्वाध्यासमपेक्षते; अकर्तुर्भोगाभावात्। कर्तृत्वं च रागादिदोषसंयोगाध्यासमपेक्षते; रागादिरहितस्य कर्तृत्वाभावात्। दोषसंयोगश्च भोक्तृत्वमपेक्षते; अनुपभुक्तेऽनुपभुक्तजातीये वा रागाद्यनुत्पत्तेः। तथा च बीजाङ्कुरवत् प्रवाहरूपेण कर्तृत्वादीनामनादित्वम्। एतेनैतदप्यपास्तम्—प्रपञ्चस्य प्रतीतौ सत्यामारोपः, आरोपे च प्रतीतिरिति परस्पराश्रयत्वमिति। अनादित्वे सति

---

[ तात्पर्य यह है कि प्रत्यगात्मा चैतन्यस्वरूप है, जड़ नहीं है और सत् है, तुच्छ नहीं है, इससे उस साक्षिस्वरूप प्रत्यगात्माकी सत्तासे सत्ताको प्राप्त होकर अविद्या उसके निरवच्छिन्न आनन्द, अनन्तत्व, विभुत्व, सत्यत्व आदि स्वरूपको आच्छादित करती है। अतएव सावच्छिन्न विषयानन्दका अनुभव होनेपर भी नित्यानन्दका अनुभव नहीं होता। एवम्भूत अध्यासका जो अपलाप करते हैं उनको यही मानना होगा कि नित्यानन्दादिस्वरूपवाला कोई प्रत्यगात्मा ही नहीं है। ]

अब शङ्का करते हैं कि अध्यासको यदि आप कार्य कहते हैं; तो ऐसी अवस्थामें अध्यास अनादि कैसे? उत्तर देते हैं—आत्मामें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि दोषके संसर्गको ही अध्यास कहते हैं। इसमें जो कर्ता नहीं है वह भोग करनेवाला नहीं हो सकता, इसलिए भोक्तृत्वका अध्यास कर्तृत्वके अध्यासकी अपेक्षा रखता है। और कर्तृत्वका रागद्वेषके बिना सम्भव नहीं है; अतः कर्तृत्वाऽध्यासमें राग आदि धर्मोंके सम्बन्धाध्यासकी अपेक्षा है। और यह रागादिरूपदोषका सम्बन्ध भोक्तृत्वके बिना अनुपपन्न है, क्योंकि अनुपभुक्त एवं अनुपभुक्तसजातीय जो नहीं हैं, ऐसे भोगोंमें रागादि होते ही नहीं, अतः रागादिदोषसंसर्गाध्यासमें भोक्तृत्वकी अपेक्षा है। इस क्रमसे बीजाङ्कुरकी भाँति प्रवाहरूपसे कर्तृत्वादिमें अनादित्व सिद्ध हुआ। इस अनादिपरम्पराके दिखानेसे प्रपञ्चकी प्रतीति होनेपर अध्यासकी कल्पना और अध्यास सिद्ध होनेपर प्रपञ्चकी प्रतीति इस प्रकार वादी द्वारा प्रदर्शित अन्योन्याश्रय दोष

पूर्वपूर्वाध्यासोपदर्शितस्य देहादेः संस्काररूपेण स्थितस्योत्तरोत्तराध्यास-हेतुत्वात् ।

न च देहादेरवस्तुत्वादनारोप इति वाच्यम्, प्रतीतिमात्रेणारोप्यत्वसिद्धौ वस्तुसत्ताया अप्रयोजकत्वात् । 'इदं रजतम्' इत्यादौ हि सत्यानृतयोः शुक्तिरजतयोस्तादात्म्यमध्यस्यते । न च दूरस्थवनस्पत्योः सत्ययोरेव तादात्म्यमध्यस्यत इति वाच्यम्; तत्राऽपि सत्येव वृक्षद्वयेऽधिष्ठानेऽनृतस्यैवैकत्वधर्मस्याऽध्यासात् । अन्यथा वस्तुनोर्गुणगुणिनोरपि तादात्म्यस्याऽध्यस्तत्वप्रसङ्गात् ।

---

भी खण्डित हो गया । अनादि प्रवाहपरम्परामें अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता । किञ्च, अनादि होनेपर भी पूर्व-पूर्व अध्यासके द्वारा दिखलाई देनेवाले संस्काररूपसे स्थित देह आदि उत्तरोत्तर अध्यासके कारण हो जायँगे [ भाव यह है कि जैसे पूर्व-पूर्व बीज और वृक्ष उत्तरोत्तर वृक्ष और बीजके कारण होते हैं तथा पूर्व-पूर्व रजतज्ञान संस्कारद्वारा उत्तरोत्तर रजतभ्रमके कारण होते हैं वैसे ही आत्मामें भी भोग द्वारा विषयमें रागादि और रागादिसे कर्तृत्व आदि हेतुपरम्परासे उत्तर-उत्तर अध्यास होते हैं ] ।

यदि शङ्का हो कि देहादि तो कोई वस्तु ही नहीं हैं, अतः उनका आत्मामें आरोप कैसे होगा ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतीतिमात्रसे आरोप्यकी सिद्धि हो जानेसे ही आरोप हो सकता है, अतः आरोपमें वस्तु-सत्ताकी आवश्यकता नहीं है। इसीसे 'यह रजत है' इस भ्रमस्थलमें भी सत्य शुक्ति और अनृत ( मिथ्या ) रजतका परस्पर तादात्म्य अध्यस्त होता है । यदि शङ्का हो कि जहांपर दूर देशमें स्थित दो पेड़ोंमें ऐक्यका ( एकत्व संख्याका ) आरोप होता है, वहांपर तो दोनों वृक्ष सत्य ही हैं, सत्य और अनृत नहीं है । इससे सत्यानृतका ही तादात्म्य अध्यास कहलाता है । इस नियममें व्यभिचार होगा ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त स्थलमें सत्य अधिष्ठानभूत दो वृक्षोंमें अनृतरूप एकत्व अध्यस्त है । अन्यथा ( यदि दो सत्य वस्तुओंमें ही प्रतीयमान अध्यस्त माना जाय, तो ) गुण और गुणीरूप सत्य

**यद्यप्यात्मानात्मनोरन्योन्यस्मिन्नन्योन्यतादात्म्याध्यासः समानः, तथाप्यात्मनः संसृष्टरूपेणैवाऽध्यासो न स्वरूपेणेति सत्यत्वम्, अनात्मनस्तु स्वरूपेणाऽप्यध्यास इत्यनृतत्वम् ।**

**न च तयोः सत्यानृतयोस्तादात्म्ये गुणगुण्यादाविव भेदाभेदावभासेन**

दो वस्तुओंका भी तादात्म्य* अध्यस्त माना जायगा ।

यद्यपि आत्मा और अनात्मामें दूसरेमें दूसरेमें तादात्म्यका अध्यास एक-सा ही है; तथापि आत्माका अध्यास अनात्मामें संसृष्टरूपसे ही है, स्वरूपसे नहीं । इससे आत्मा सत्य सिद्ध हुआ । अनात्माका तो स्वरूपसे भी अध्यास है, इससे उसमें अनृतत्व सिद्ध होता † है ।

शङ्का होती है कि सत्यानृतके तादात्म्य ( पूर्वोक्त रीतिसे भेदाऽभेद )

* 'वेदान्तमतमें गुण और गुणीका तादात्म्य (भेदाऽभेद) मानते हैं, अतएव 'नीलो घटः' ऐसा समानाधिकरण प्रयोग संगत होता है । यदि सर्वथा अभेद मानें, तो 'घटो घटः' के तुल्य 'नीलः घटः' यह प्रयोग अप्रामाणिक होगा। और यदि सर्वथा भेद मानें, तो 'अश्वो गर्दभः' इस प्रयोगकी तरह उक्त प्रयोग अप्रामाणिक होगा । इससे उक्त स्थलमें समान विभक्तिका प्रयोग देखनेसे भेदाऽभेद ही सिद्ध होता है, यह भेदाऽभेदरूप तादात्म्य अध्यस्त नहीं है ।

† तात्पर्य यह है—'इदं रजतम्' पुरोदृश्यमान इदम् पदार्थ और रजत दोनों परस्पर तादात्म्यापन्न हैं । इदंका तादात्म्य रजतमें और रजतका तादात्म्य इदम् पदार्थमें है । एवं अध्यस्त पदार्थ अनृत और अधिष्ठान सत्य होता है, ऐसा नियम है । तब दोनोंके अध्यस्त और दोनोंके अधिष्ठान होनेसे पर्यायेण एक ही में सत्यत्व और अनृतत्व दोनोंका प्रसङ्ग आ जाता है । ऐसा माननेसे शून्यवाद आ जायगा । अतः इदम् पदार्थ स्वरूपतः सत्य है, क्योंकि वही दोनों अध्यासोंका अधिष्ठान और अनध्यस्त है । जो इदमंश रजत-तादात्म्यापन्न होनेसे संसृष्ट है वही रजतमें अध्यस्त है, उसको अनृत माननेमें कोई बाधा नहीं है । स्वरूपतः वही सत्य और अनध्यस्त है । एवम् आत्मा और अनात्माके परस्पर अध्याससे सिद्ध 'अहं स्थूलः' (मैं मोटा हूँ) इत्याद्याकारप्रतीतिमें अहंपदार्थ (आत्मा) का स्थूल देहमें अध्यास और स्थूल देहका अहंपदार्थमें परस्पर अध्यास होनेके कारण दोनों अध्यस्त होनेसे दोनों अनृत ही हैं, अतः आपाततः निरवधिक भ्रमका प्रसङ्ग मालूम होता है। इसलिए कहा गया है कि आत्माका संसृष्टत्वरूपसे ही अध्यास है, स्वरूपसे नहीं । 'अहम् इस उदाहरणमें आत्माका 'अहं' (मैं) यह रूप संसृष्ट ही है, स्वरूपभूत नहीं है । आत्माका स्वरूपभूत रूप तो सत्-चित्-आनन्दादि है, स्वरूपभूत चैतन्यादि अविद्याबलसे अहमाकारको प्राप्त हुआ है । आत्माका संसृष्ट रूप ही ( अहम् ) है, अतः यह भी अवश्य मिथ्या ही है। इसका भी अधिष्ठान चिदेकरस आत्मा ही है, जिसका कभी भी बाध नहीं होता, अतः वह सत्य है । इससे परमार्थतः निरवधिक भ्रमका प्रसङ्ग नहीं है, इत्यादि तात्पर्य समझना चाहिए ।

'शौक्ल्यवान् पटः' इतिवद् 'देहेन्द्रियादिमान् अहम्' इति वा 'ममेदं देहादि' इति वा प्रत्ययः शङ्कनीयः; इतरेतरत्वमत्यन्तैकत्वमापाद्यैवाऽध्यासस्वीकारात् । तर्हि तादात्म्याध्यास इति न वक्तव्यं किं त्वेकत्वाध्यास इत्येव वाच्यमिति चेद्, न; 'पटस्य शौक्ल्यम्' इतिवत् 'मम देहः' इति भेदव्यवहारस्य दर्शनात् । न चैवं सति भेदग्रहेण भेदाग्रहे व्यापके निवृत्ते तद्व्याप्योऽध्यासोऽपि निवर्तेतेति वाच्यम्, भेदग्रहस्याऽनङ्गीकारात् । नहि लौकिकः 'मद्देहः' इति भेदं व्यवहरन्तोऽपि शास्त्रसंस्कारमन्तरेण देहाद्भिन्नमात्मानं गृह्णन्ति ।

तस्मादनुभवत एकत्वाध्यास एव, व्यवहारतस्तु तादात्म्याध्यास इत्यपि व्यपदेष्टुं शक्यते; देहात्मनोरहमित्यभेदव्यवहारस्य मद्देह इति भेदव्यवहारस्य

---

माननेसे गुण और गुणीका भेद तथा अभेद दोनोंके प्रतिभास होनेसे जैसे 'शौक्ल्यवान् पटः' (शुल्क गुणवाला वस्त्र) यह प्रतीति होती है, वैसे ही 'देहेन्द्रियादिमानहम्' ( देहेन्दियादिवाला मैं हूँ ) या 'ममेदं देहादि' ( यह देहादि मेरा है) यह भी प्रतीति होनी चाहिए ? इसका समाधान देते हैं कि यह ठीक नहीं है, क्योंकि इतरेतरत्वका अध्यास अत्यन्त एकत्वका आपादान करके ही स्वीकृत किया गया है । 'तब तो ऐसी दशामें आपको तादात्म्यका अध्यास न कहना चाहिए; किन्तु एकत्वका ही अध्यास कहना चाहिए' ऐसी शङ्का उत्पन्न होती है; इसका समाधान करते हैं कि 'कपड़ेकी सफेदी' इस प्रतीतिके तुल्य 'मेरा शरीर' इस प्रतीतिके होनेसे भेदव्यवहार भी देखनेमें आता है । यदि शङ्का हो कि अब तो इस भेदप्रतीतिने अध्यासके प्रति व्यापकीभूत 'भेदके अग्रह' को हटा दिया, इस व्यापकके निवृत्त हो जानेसे इसका व्याप्य अध्यास भी निवृत्त हो जायगा, अर्थात् अध्यास नहीं होगा । तो यह भी युक्त नही है, क्योंकि भेदग्रहका स्वीकार नहीं है । यद्यपि लौकिक पुरुष ( शास्त्रीय ज्ञानसे शून्य पुरुष ) 'मेरा देह' ऐसा भेदसे व्यवहार करते हैं, तथापि शास्त्रोपदेशसे जन्य संस्कारके हुए बिना 'देहसे आत्मा भिन्न है' ऐसा स्वीकार नहीं करते ।

इससे अनुभवसे एकत्वका अध्यास ही व्यवहारसे तादात्म्यका अध्यास है ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि देह आदि और आत्मा इन दोनोंमें 'अहम्' ( मैं ) इस रीतिसे अभेदव्यवहार और 'मेरा शरीर है' इस प्रकार भेदव्यवहार

**च सद्भावात् । न चैकत्वमेव तादात्म्यमिति वाच्यम्; भेदाऽभेदसहमन्योन्याभावविरोधि तादात्म्यम्, भेदविरोध्येकत्वमिति तयोर्विविक्तत्वात् । जीवब्रह्मणोरप्येकत्वमेव वस्तुतोऽविद्याकल्पितभेदमपेक्ष्य तादात्म्यमिति व्यपदिश्यत इत्यविरोधः । न च जीवब्रह्मैक्यवदात्मदेहैक्यमनुभूयमानमपि वास्तवं भवितुमर्हति । सत्यानृतरूपेणात्यन्तविविक्तयोर्वास्तवैक्यस्याऽयोगात् । तस्मादध्यस्तमेवैकत्वम् ।**

---

भी होता है । [ 'न चैतयोः सत्यानृतयोः' ग्रन्थसे लेकर 'शक्यते' तक ग्रन्थका संक्षेपसे तात्पर्य यह है कि यदि गुण और गुणीमें भेदाऽभेदकी तरह आत्मा और अनात्मामें भी भेदाऽभेदका स्वीकार करते हैं तो भेदका स्वीकार करनेसे सिंह और माणवककी भेदप्रतीतिके प्रसिद्ध होनेसे जैसे 'सिंहो माणवकः' इस प्रतीतिको गौणी प्रतीति मानते हैं, अध्यास नहीं मानते हैं वैसे ही देह और आत्माकी भेदप्रतीतिके प्रसिद्ध होनेसे 'अहं स्थूलः' 'अहं मनुष्यः' यह प्रतीति भी गौणी हो जायगी । इससे भेदका स्वीकार नहीं किया जा सकता । कारण कि जो जो प्रतीयमान होते हैं वे सबके सब स्वीकृत होते हैं, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि उक्त लोकप्रतीतिमें ही व्यभिचार है और मरुमरीचिका भी तो प्रतीत होती है, क्या उनका स्वीकार कर सकते हैं ? इस आशयको लेकर ग्रन्थकारने लिखा है कि अनुभवसे एकत्वका ही स्वीकार किया जाता है, और व्यवहारमें भेद-अभेद दोनोंके आनेसे तादात्म्यका ही स्वीकार किया जाता है ।' ] 'एकत्व ही तादात्म्य है' यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भेद और अभेद दोनोंको सहनेवाला ( जिसमें भेद और अभेद दोनोंका परस्पर कोई विरोध न हो, ऐसा ) तथा अन्योन्याभावका विरोधी तादात्म्य है और भेदका विरोधी एकत्व है, इस रीतिसे एकत्व और तादात्म्यका विषय अत्यन्त विविक्त—भिन्न है । वस्तुतः जीव और ब्रह्मका एकत्व ही है, किन्तु अविद्याकल्पित भेदको लेकर तादात्म्यके माननेमें कोई विरोध नहीं आता । यदि शङ्का हो कि जीव और ब्रह्ममें एकत्व जैसे वास्तविक है वैसे ही अनुभवसे सिद्ध आत्मा और देहके ऐक्यको भी परमार्थ ( सत्य ) ही क्यों न मान लिया जाय ? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि सत्य और अनृतरूपसे अन्यत्र—पृथक्-पृथक् गृहीत होनेवाले पदार्थोंका ऐक्य ( एक होना ) सत्य नहीं हो

तस्य चाऽध्यासस्याऽनाद्यनिर्वचनीयभावरूपाज्ञानमुपादानम्; तस्मिन् सत्यध्यासोदयादसति चाऽनुदयात्। नन्वेतावन्वयव्यतिरेकावध्यासप्रतिबन्धकतत्त्वज्ञानाभावविषयतयाऽप्युपपन्नाविति चेद्, न; तत्त्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकलक्षणरहितत्वात्। सति हि पुष्कलकारणे कार्योत्पादविरोधितया जायमानं प्रतिबन्धकम्। तत्त्वज्ञानं त्वसत्येव काचकामलादिदोषाख्येऽध्यासपुष्कलकारणे जायत इति लक्षणरहितम्। तथाऽपि तत्त्वज्ञानस्याऽध्यासविरोधितया विरोधिसंसर्गाभावविषयत्वेनाऽपि तावुपपत्स्येते इति चेद्, न;

---

सकता। इसलिए देह और आत्माका ऐक्य अध्यासमूलक ही है। [ देहादिकी विनाशिता प्रत्यक्षसिद्ध है इसके अनृतत्वसाधनके लिए विशेष युक्तिके प्रदर्शनकी आवश्यकता नहीं है और आत्माको शास्त्र अविनाशी घोषित करते हैं, अतः आत्मा सत्य सिद्ध है। इससे इनका अनृतत्व और सत्यत्व अन्यत्र प्रसिद्ध है, इनका अनुभूयमान ऐक्य भ्रमात्मक ही है। और भेद वास्तव है इसलिए दोनोंका तादात्म्य अध्यस्त है, यह भाव है ]।

पूर्वोक्त अध्यासका उपादान कारण अनादि अनिर्वचनीय भावरूप अविद्या है, क्योंकि उस अविद्याके रहनेपर अध्यास होता है और उस अविद्याके न रहनेपर अध्यास नहीं होता, ऐसा अन्वय और व्यतिरेक है। यदि शङ्का हो कि दिखाये गये अन्वय और व्यतिरेक अध्यासके प्रतिबन्धक तत्त्वज्ञानके अभावमें ही लागू रहेंगे अर्थात् अविद्याके रहनेपर तत्त्वज्ञानका अभाव और अविद्याके न रहनेपर तत्त्वज्ञान होता है, अतः इससे अविद्याकी कारणता सिद्ध नहीं हो सकती? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वज्ञानमें प्रतिबन्धकका लक्षण नहीं जाता है। प्रतिबन्धक उसको कहते हैं जो कार्यके सम्पूर्ण कारणकलापके रहते भी उस कार्यका विरोधी होकर उत्पन्न हो। तत्वज्ञान तो अध्यासके जबर्दस्त कारण काच, कामला आदि दोषके न रहनेपर ही उत्पन्न होता है। इस कारण तत्त्वज्ञान प्रतिबन्धकके लक्षणसे रहित है। यदि शङ्का हो कि प्रतिबन्धकके लक्षणसे शून्य होनेपर भी तत्त्वज्ञान अध्यासका विरोधी तो है ही, इससे आपके पूर्वोक्त अन्वय और व्यतिरेक विरोधी तत्त्वज्ञानके सम्बन्धके अभावको लेकर ही उपपन्न हो जायंगे, क्योंकि यह नियम है कि कार्यमात्रका प्रतिबन्धकका संसर्गाभाव कारण है, फिर वे अन्वय और व्यतिरेक अविद्याके साधक क्यों माने जायँ?

कार्यस्य तावदुपादानापेक्षा प्रथममुत्पद्यते, पश्चाद्विरोधिसंसर्गाभावापेक्षा; तथा च 'अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलवद्' इति न्यायेनाऽन्तरङ्गोपादानविषयत्वमेव तयोर्न्याय्यम्। प्रध्वंसवदुपादानापेक्षैव मा भूदिति चेद्; विमतं सोपादनम्, भावत्वे सति कार्यत्वाद्, घटवदित्यनुमानात्। ननु पटगुणे रूपेऽनैकान्तिको हेतुः, नहि तस्योपादानं संभवति। तस्य किं पट एवोपादानं द्रव्यान्तरं वा? नाऽऽद्यः, सव्येतरयोर्विषाणयोरिव युगपदुत्पन्नयोः कार्यकारणभावानुपपत्तेः। द्वितीये द्रव्यान्तरगतत्वेन पटगुणत्वहानिरिति, मैवम्; तार्किकमते तावद् 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं तिष्ठति' इति न्यायेन यौगपद्याभावात् पटस्यैवोपादानत्वसंभवः। वेदान्तिमते तु तन्तू-

---

तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि कार्यको सबसे प्रथम उपादान कारणकी अपेक्षा होती है। अनन्तर विरोधीके संसर्गाभावकी अपेक्षा होती है। इसलिए 'अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग इन दोनोंमें अन्तरङ्ग बलवान् होता है' इस न्यायसे पूर्वोक्त अन्वय और व्यतिरेक द्वारा अन्तरङ्ग उपादान (अविद्या) की ही सबसे पहले अपेक्षा उचित है। यदि शङ्का हो कि प्रध्वंसरूप कार्यमें जैसे उपादानकी अपेक्षा नहीं होती है, वैसे ही अध्यासमें भी उपादानकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए। तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अनुमानसे अध्यासमें सोपादानत्व सिद्ध है—विवादग्रस्त (अध्यास) उपादान कारणवाला है, भावरूप कार्य होनेसे, घटके समान। यदि शङ्का हो कि वस्त्रके गुण शुक्ल, नील आदि रूपमें यह हेतु व्यभिचरित है, क्योंकि उसका कोई उपादान नहीं हो सकता। यदि उपादान मानते हैं, तो पट ही उपादान है या कोई दूसरा द्रव्य? पट तो उपादान नहीं माना जा सकता, कारण कि एक साथ उत्पन्न होनेवाले गऊ आदिके दाहिने और बायें सींगोंमें जैसे कार्यकारणभाव नहीं होता, वैसे ही साथ-साथ उत्पन्न होनेवाले पट और उसके गुण शुक्ल आदि रूपमें कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। दूसरे पक्षमें, अन्य द्रव्य पटके गुणके प्रति यदि उपादान माना जाय, तो वह पटका गुण नहीं कहा जायगा। तो यह भी शङ्का सङ्गत नहीं है, क्योंकि नैयायिकोंके मतमें उत्पन्न हुआ द्रव्य क्षणभर गुणरहित रहता है, इस नियमसे गुण और द्रव्य एक-साथ उत्पन्न नहीं होते। इससे पटके गुणका उपादान पट ही हो सकता है। [ अतः भावरूप कार्यमें सोपादानत्वका व्यभिचार नहीं है ]। पूर्वोक्त नैयायिकसंमत नियमको न

नामुपादानत्वेऽपि कार्यकारणयोरभेदात् पटगुणत्वं न हीयते । न च काचादिदोषाणामुपादानत्वसंभवेऽपि किमनेनाऽज्ञानेनेति वाच्यम्, अध्यासतदुपादानयोरेकाश्रयत्वनियमात् । इह त्वध्यास आत्माश्रितो दोषाश्चेन्द्रियाद्याश्रिता इति नोपादानत्वं तेषाम् । ननु रजताध्यासः शुक्त्याश्रितः प्रतीयते तदुपादानं त्वज्ञानमात्माश्रितमिति त्वन्मतेऽपि नैकाश्रयत्वसिद्धिः, मैवम्; आत्माश्रितस्यैवाऽध्यासस्य शुक्तिसंसर्ग इत्युपपादयिष्यमाणत्वात् ।

'ननु तर्हि अर्थाध्यासस्याऽज्ञानमुपादानमस्तु ज्ञानाध्यासस्य त्वात्माऽन्तःकरणं चोपादानं भविष्यति, सम्यग्ज्ञानेषु मतभेदेन तयोरुपादानत्वा-

---

माननेवाले वेदान्तियोंके मतमें यद्यपि तन्तु ही पट और उसके गुण दोनोंके प्रति उपादान कारण हैं, तथापि कार्य और कारण इन दोनोंमें अभेद होनेके कारण तन्तुके गुण होनेपर भी उनके पटगुण कहलानेमें कोई आपत्ति नहीं है । इससे अध्यासमें सोपादनत्व सिद्ध हुआ । परन्तु उसके उपादान काच आदि दोष ही मान लिये जायँ, अतिरिक्त अविद्याको उपादान माननेकी क्या आवश्यकता है ? ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अध्यास और उसके उपादानको एक ही आश्रयमें रहना चाहिए, ऐसा नियम है । आपके कथनके अनुसार यह नहीं बनेगा, क्योंकि अध्यास ज्ञानरूप होनेसे आत्मामें है और काच आदि दोष इन्द्रिय आदिमें हैं । अतः काच आदि दोष अध्यासके प्रति उपादान कारण नहीं हो सकते हैं ।

यदि शङ्का हो कि रजतका तादात्म्याध्यास शुक्तिमें ही प्रतीत होता है और उसका उपादान अविद्या आत्मामें आश्रित है इससे ( अविद्या माननेपर भी) आपके मतमें एकाश्रयत्व (एक ही जगह रहने) की सिद्धि नहीं हो सकती ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मामें ही रहनेवाले अध्यासके साथ शुक्तिका सम्बन्ध है, इसका उपपादन आगे किया जायगा । [ अज्ञानका आश्रय तथा विषय चेतन ही है, जड़ नहीं हो सकता, इत्यादि अज्ञानके प्रकरणमें कहा जायगा, यह भाव है । ]

अच्छा, तो अर्थाध्यासके प्रति अज्ञानको उपादान भले ही मानो, परन्तु ज्ञानाध्यासके प्रति आत्मा या अन्तःकरण ही उपादान होंगे, क्योंकि सम्यग्ज्ञान ( प्रमाज्ञान )के विषयमें नैयायिक और वेदान्तियोंका मतभेद है, अतः आत्मा और अन्तःकरण उपादान माने गये हैं ? ऐसा यदि कहो, तो यह भी ठीक नहीं

दिति चेद्, मैवम्; आत्मनोऽपरिणामित्वात्। अन्तःकरणस्य चेन्द्रिय-संयोगलिङ्गादिसापेक्षत्वात्। नह्यत्र संयोगादिः संभवति। मिथ्यापदार्थस्य प्रत्ययमात्रशरीरस्य प्रत्ययात् प्रागसिद्धेः केनेन्द्रियं संयुज्येत। इन्द्रियान्वयव्यतिरेकौ तु भ्रान्तिज्ञानस्याऽधिष्ठानज्ञानविषयतयाऽन्यथासिद्धौ।

न चाऽधिष्ठान[ज्ञान]संप्रयोगादेव भ्रान्तिज्ञानोत्पत्तिसिद्धिः, मिथ्यार्थ-संप्रयोगाभावे तत्प्रतीत्यनुपपत्तेः। न च संस्कारोपनीततया 'सोऽयं देवदत्तः' इति प्रत्यभिज्ञायां तत्तांशवत् तत्प्रतीतिः; तद्वदेवाऽभ्रान्तत्वापत्तेः। न चाऽधि-

---

है, क्योंकि आत्मा परिणामी नहीं है, इससे वह उपादान नहीं हो सकता। और अन्तःकरणके परिणामी होनेपर भी वह प्रत्यक्षस्थलमें इन्द्रिय-संयोग तथा परोक्षज्ञानमें हेतु या शब्द आदिकी अपेक्षा रखता है। और अध्यास-स्थलमें इन्द्रियसंयोग आदिका सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रतीतिमात्र-स्वरूप मिथ्यापदार्थ प्रतीतिसे पहले किस तरह इन्द्रियसे संयुक्त हो सकेगा? इन्द्रियके अन्वय और व्यतिरेक तो भ्रमज्ञानके अधिष्ठानभूत पुरोवर्ती विषयके ज्ञान करानेसे अन्यथासिद्ध हैं।

यदि शङ्का हो कि अधिष्ठानके साथ हुए इन्द्रियसंयोगसे ही भ्रमज्ञानकी उपपत्ति हो जायगी। तो यह भी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुके साथ इन्द्रियसम्प्रयोग हुए बिना मिथ्या वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता है? यदि शङ्का हो कि साक्षात् विषयके साथ सम्प्रयोग न होनेपर भी 'सोऽयं देवदत्तः' (यह वही देवदत्त है ) इस प्रत्यभिज्ञामें तत्तांशके समान संस्कार द्वारा मिथ्या विषयके साथ सम्बन्ध हो जानेसे मिथ्या वस्तुकी प्रतीति हो सकती है। [ तात्पर्य यह है कि जैसे प्रत्यभिज्ञामें पुरोवर्त्ती देवदत्तसे इन्द्रियसंयोग होता है तत्तांशके साथ अर्थात् पूर्वानुभूत परोक्ष देवदत्तके साथ इन्द्रियका संयोग नहीं होता तो भी पूर्वानुभवसे उत्पन्न संस्कार उद्बुद्ध होकर तत्तांश की प्रतीति करा देता है, वैसे ही भ्रमस्थलमें भी शुक्ति आदि अधिष्ठानके साथ यद्यपि इन्द्रियसंयोग है, रजतादिसे नहीं है, तथापि चाकचिक्य सादृश्य आदि दोषमाहात्म्यसे पूर्वानुभूत रजतका संस्कार उद्बुद्ध होकर मिथ्या रजतादिविषयकी प्रतीति करा देगा, अतः मिथ्या विषयके साथ भी इन्द्रियसंयोगकी आवश्यकता नहीं है। इससे अन्तःकरण ज्ञानाध्यासका उपादान हो सकता है।] तो यह

ष्ठानसंसर्गांशस्याऽसत्त्वाद् भ्रान्तत्वम्; तर्हि तस्याऽसत्त्वेन संप्रयोगायोग्यस्याऽऽरोप्यस्याऽपरोक्षत्वाभावप्रसङ्गात्।

ननु मिथ्यार्थेऽन्तःकरणमिन्द्रियसंप्रयोगं नाऽपेक्षते; विनाऽपि तेन स्वाप्नज्ञानदर्शनादिति चेत्; तथाऽप्यन्तःकरणस्य ज्ञानाकारपरिणामे ज्ञातृत्वशून्यत्वाद् मिथ्यार्थव्यवहारो न सिध्येत्। अथाऽन्तःकरणमेव जडमपि ज्ञानकर्तृत्वाकारेण परिणंस्यते, आत्मा वा ज्ञाता भविष्यतीति मन्येथाः;

---

भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि आपके द्वारा प्रदर्शित प्रत्यभिज्ञाकी रीतिसे भ्रम-प्रक्रिया समझी जाय, तो प्रत्यभिज्ञास्थलमें तत्तांशकी तरह मिथ्यारजतका ज्ञान भी भ्रमज्ञान नहीं कहा जा सकेगा। यदि कहो कि शुक्तिरजतज्ञानस्थलमें अधिष्ठान शुक्ति आदिका रजतके साथ संसर्ग नहीं है इससे भ्रम कहलाता है। [प्रत्यभिज्ञास्थलमें तो पुरोवर्ती देवदत्तका पूर्वानुभूत परोक्ष देवदत्तके साथ संसर्ग है, इससे भ्रम नहीं कहा जाता] तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि भ्रमस्थलमें अधिष्ठानका संसर्ग नहीं है, तो संप्रयोगमें अयोग्य मिथ्या रजतादिका अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ही न होगा।

पुनः यदि शङ्का हो कि यथार्थ वस्तुके ज्ञानके लिए तो अन्तःकरण इन्द्रियसंयोगकी अपेक्षा करता है और मिथ्यावस्तुके ज्ञानके लिए उसकी अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि स्वप्नमें विषयेन्द्रिय-संयोगके बिना स्वप्नके पदार्थोंका ज्ञान होता है? तो यह भी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर भी निर्वाह नहीं हो सकता, कारण कि उपादान होनेके नाते अन्तःकरणका ज्ञानके आकारमें परिणाम हो जानेपर ज्ञातृत्वरहित होनेसे मिथ्या वस्तुका व्यवहार सिद्ध न होगा। [व्यवहार ज्ञान, अभिलपन, उपादान और हान भेदसे चार प्रकारका होता है यह चतुर्विध व्यवहार ज्ञातृत्वसम्पत्तिसे ही बन सकता है, ज्ञातृत्वका प्रयोजक अन्तःकरण तो मिथ्याज्ञानाकारमें परिणत हो गया है, इससे मिथ्यावस्तुविषयक व्यवहारकी सुतरां असिद्धि होगी, यह तात्पर्य हुआ] यदि शङ्का हो कि जड़ अन्तःकरण ही ज्ञानके कर्तृत्वाकारसे परिणत हो जायगा और आत्मा ज्ञाता होगा, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि भ्रम, यथार्थज्ञान, बन्ध और मोक्षके एकाश्रयत्व (एक ही आधारमें होने) का नियम है। इस नियमके अनुसार जब अन्तःकरण भ्रान्त होगा तब उसमें ही सम्यक् ज्ञान और बन्धनिवृत्ति—मोक्ष मानना होगा। आत्मामें भ्रम नहीं है; अतः उसमें सम्यक् ज्ञान तथा बन्धनिवृत्ति—मोक्षकी स्थिति

एवमपि भ्रान्तिसम्यग्दर्शनबन्धनिवृत्तीनामेकाश्रयत्वनियमादन्तःकरणस्य भ्रान्तत्वे तस्यैव सम्यग्दर्शनबन्धनिवृत्ती प्रसज्येयाताम् । इष्यते त्वात्मन एव भ्रान्तत्वादिकम् , तच्चाऽऽत्माश्रिताज्ञानोपादानत्वपक्षे सिध्यति; नाऽन्यथा । तस्मादज्ञानमेवोपादानं परिशिष्यते ।

न चाऽज्ञाने विवदितव्यम्; 'अहमज्ञः' 'मामन्यं च न जानामि' इति प्रत्यक्षेण जडात्मिकाया अविद्याशक्तेरात्मानमाश्रित्य बाह्याध्यात्मिकेषु व्याप्ताया अनुभूयमानत्वात् । ननु ज्ञानाभावविषयोऽयमनुभवः, तन्न; 'अहं सुखी' इतिवदपरोक्षानुभवत्वात् । अभावस्य च षष्ठप्रमाणगम्यत्वात् । प्रत्यक्षाभाववादे तु धर्मिप्रतियोगिनोरात्मज्ञानयोः प्रतीतौ 'मयि ज्ञानं नास्ति' इति एतादृशं ज्ञानाभावप्रत्यक्षं व्याहन्येत । तयोरप्रतीतौ च हेत्व-

---

भी न बनेगी, ऐसा इष्ट नहीं है प्रत्युत ] आत्मामें ही भ्रम, सम्यक् ज्ञान और बन्ध-निवृत्ति—मोक्ष इष्ट है, वह तब बन सकता है, जब अध्यासका उपादान कारण आत्माश्रित अज्ञान माना जाय । अन्यथा ( अन्तःकरण आदिको भ्रमका उपादान माननेपर ) उक्त ( भ्रान्त्यादिकी एकाश्रयत्वरूप ) व्यवस्था सङ्गत न होगी, अतः परिशेषात् अज्ञान ही अध्यासका उपादान सिद्ध हुआ ।

और अज्ञानके अस्तित्वमें भी सन्देह नहीं करना चाहिए । क्योंकि 'मैं अज्ञ—अज्ञानी हूँ' और 'मैं अपने आपको तथा दूसरेको नहीं जानता हूँ' इस प्रत्यक्षप्रतीतिसे आत्मामें आश्रित होकर सब बाह्य घट आदि और आध्यात्मिक अहङ्कार आदि वस्तुओंमें व्याप्त जड़स्वरूप अविद्या शक्ति सिद्ध ही है । इससे प्रत्यक्षसिद्ध वस्तुमें विवाद करना उचित नहीं है । यदि कहो कि 'मैं नहीं जानता' इत्यादि पूर्वोक्त अनुभव ज्ञानके अभावको ही विषय करता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त अनुभव 'मैं सुखी हूँ' इस अनुभवके सदृश प्रत्यक्ष अनुभव है और अभाव तो 'अनुपलब्धिरूप' छठे प्रमाणका विषय होनेसे परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है । अभावको प्रत्यक्ष माननेवालेके मतमें भी धर्मी ( अहंपदार्थ ज्ञाता—आत्मा ) प्रतियोगी ( ज्ञानकी ) प्रतीति रहनेपर 'मुझमें ज्ञान नहीं है' इस प्रकार ज्ञानके अभावका प्रत्यक्ष व्याहत ( परस्परविरुद्ध ) होगा, इस व्याघातके भयसे यदि आत्मा और ज्ञान दोनोंकी प्रतीति नहीं होती, ऐसा

**भावादेव तत्प्रत्यक्षानुत्पादः। ननु सर्वत्र व्यवहारो ज्ञानस्य फलत्वेन लिङ्गं भवति; तल्लिङ्गाभावेन ज्ञानाभावोऽनुमीयते इति चेद्, न; तदापि धर्म्यादि-प्रतीत्यप्रतीत्योरुक्तदोषात्। षष्ठमानगम्यो ज्ञानाभाव इति भट्टमतेऽपि अयमेव दोषः। अस्मन्मते तु साक्षिवेद्यो ज्ञानमात्राभावः। ज्ञानविशेषा-भावस्तु 'व्यवहारे भट्टनयः' इत्यभ्युपगमेन षष्ठमानगम्यः।**

**यदा तु 'मही घटत्वं घटतः कपालिका कपालिकाचूर्णरजस्ततोऽणुः' इति पुराणमतमाश्रित्याऽभावपदार्थ एव नाऽङ्गीक्रियते, तदा न काऽपि चिन्ता।**

---

माना जाय, तो हेतुके बिना अभावका ज्ञान ही नहीं होगा [ क्योंकि अभावज्ञानमें धर्मी तथा प्रतियोगी दोनोंका ज्ञान कारण माना गया है ]। ज्ञानका फल सर्वत्र व्यवहार देखा गया है, अतः फल होनेके कारण व्यवहार ज्ञानका अनुमान करनेमें लिङ्ग 'हेतु' है। फलस्वरूप व्यवहाररूपी हेतु न होनेसे ज्ञानके अभावका अनुमान किया जाता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा माननेमें भी धर्मी आदिकी प्रतीति और अप्रतीतिमें उक्त दोष बना ही है। [ यदि ज्ञानाभावका व्यवहाररूप फलाभावसे अनुमान करते हैं, तो प्रश्न होता है कि इस अनुमानके अनुव्यवसायमें धर्मी ( आत्मा ) और प्रतियोगी ( ज्ञान )की प्रतीति है या नहीं? यदि है तो 'मैं अपनेमें ज्ञानाभावका अनुमान करता हूँ', या 'मैं ज्ञानाभाववाला हूँ' इनमें धर्मी और प्रतियोगी दोनोंका ज्ञान होनेसे व्याघात बना ही है। यदि यही पक्ष अभिमत है, तो अनुमानका उदय ही असम्भव है। पर्वतादि धर्मीके ज्ञानके बिना जब कोई भी अनुमिति नहीं देखी गई है, तब अनुव्यव-सायकी आशा करना तो दूर ही रहा, यह भाव हुआ। ]

षष्ठ प्रमाणसे ( अनुपलब्धिसे ) अभाव जाना जाता है, इस भट्ट ( मीमांसक ) मतमें भी यही पूर्वोक्त व्याघात आदि दोष आते हैं। और हमारे ( वेदान्तियोंके ) मतमें तो ज्ञानसामान्यका अभाव साक्षीसे जाना जाता है और ज्ञानविशेषका अभाव अनुपलब्धि नामक षष्ठ प्रमाणसे ही जाना जाता है, क्योंकि व्यवहारमें भट्ट ( मीमांसक ) का मत ग्राह्य है, ऐसा सिद्धान्त है।

अगर पृथ्वी, घट, कपाल, उसके भी छोटे टुकुड़े, फिर उसका चूर्ण और तब परमाणु इस पुराण मतको आश्रयणकर अभाव पदार्थका स्वीकार ही न किया जाय तो हमें कोई चिन्ता भी नहीं है। [ तात्पर्य यह है कि प्रभाकरानुयायी

**ननु भावरूपाज्ञानस्यापि ज्ञाननिवर्त्त्यत्वाङ्गीकारादहमज्ञ इत्याद्याश्रयविषयप्रतीतिगर्भितमज्ञानप्रत्यक्षं व्याहतमेव। मैवम्, आश्रयविषयाज्ञानानि त्रीण्यपि एकेनैव साक्षिणाऽवभास्यन्ते। तथा चाऽऽश्रयविषयौ साधयन्नयं साक्षी तद्वदेवाज्ञानमपि साधयत्येव न तु निवर्तयति। तन्निवर्तकं त्वन्तःकरणवृत्तिज्ञानमेव। तच्चात्र नास्तीति कथं व्याहतिः?**

---

मीमांसक अभाव पदार्थ नहीं मानते। पृथ्वी या घटके अभावका उपपादन पूर्वोक्त पुराणवचनके अनुसार यों है—पृथ्वी ही घटभावसे परिणत हो गई। अब घट रहा, पृथ्वी नहीं रही, यही पृथ्वीका अभाव है। घटके टुकड़े कर दिये गये घटका अभाव अर्थात् घट नाम बदल कर कपाल हो गये, एवम् उसका अभाव और छोटे टुकड़े उसका भी अभाव चूर्ण (धूल) उसका भी अभाव अन्ततः परमाणु हो गये, बस यही अभाव पदार्थ है। इससे अतिरिक्त अभाव कुछ नहीं है। इस प्रकार अभावका खण्डन हो गया। हम वेदान्तियोंकी, एक अद्वैततत्त्वपर अवलम्बित होनेसे, अभावका ही क्या प्रपञ्चमात्रका खण्डन कर देनेसे कोई हानि नहीं है। ]

वादी वेदान्तिमतमें दोष देता है कि भावरूप* अज्ञानको ज्ञानसे निवर्त्य माननेपर भी 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसा आश्रय और विषय दोनोंकी प्रतीतिसे युक्त अज्ञानका प्रत्यक्ष बाधित ही है। समाधान करते हैं कि नहीं बाधित नहीं है, क्योंकि आश्रय, विषय और अज्ञान तीनों एक ही साक्षीसे प्रकाशित होते हैं। इसलिए आश्रय और विषयको प्रकाशित करता हुआ साक्षी उन्हींकी तरह अज्ञानको भी प्रकाशित करता है, उसकी निवृत्ति नहीं करता। अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाला तो अन्तःकरणकी वृत्तिमें प्रतिबिम्बित चिद्रूप ज्ञान है। और अज्ञानका विनाशक वह वृत्तिज्ञान प्रकृतमें नहीं है। तब व्याघात कैसे होगा?

---

* तात्पर्य यह है कि यदि भावरूप अज्ञानका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तो ज्ञानसे उसकी निवृत्ति कैसे होगी। ज्ञानसे निवृत्ति माननेसे तो व्याघात बना ही है। यदि कहो कि निवृत्ति नहीं होती, तो अनिर्मोक्ष प्रसङ्ग होगा। यदि माना जाय कि भावरूप अज्ञानका प्रत्यक्ष (ज्ञान) नहीं होता है, तो ऐसे भावरूप अज्ञानके माननेमें प्रमाण ही क्या होगा—ऐसा आप कह भी नहीं सकते। आप तो इस भावरूप अज्ञानमें प्रत्यक्ष ही प्रमाण देते हैं, इस विवादसे भावरूप अज्ञान नहीं मानना चाहिये, इस अभिप्रायसे शङ्का की गई है। समाधानका आशय यह है कि भावरूप अज्ञानका प्रत्यक्ष होता है और वह ज्ञानसे नष्ट भी होता है तब भी कोई व्याघात नहीं है, क्योंकि एक कालमें भाव और अभावका रहना विरुद्ध है। जैसे घटाभावकालमें एवं घटाभावके देशमें घटका रहना विरुद्ध

नन्वहं घटं न जानामीत्यत्राज्ञानव्यावर्त्तको घटो न तावत् संबन्धरहितेन साक्षिणा प्रत्येतुं योग्यः; बाह्यविषयसिद्धेः स्वसंबद्धप्रमाणायत्तत्वात्। नाऽपि प्रमाणेन; प्रमाणनिवर्त्यत्वादज्ञानस्येति चेत्, सत्यम्; केवलस्य घटस्य साक्षिवेद्यत्वाभावेऽपि अज्ञातत्वधर्मविशिष्टस्याऽज्ञानद्वारा संबन्धवता साक्षिणा प्रतीतिरुपपद्यत एव। न च वाच्यं केवलस्य साक्षिवेद्यत्वाभावे विशिष्टस्याऽपि तदनुपपन्नम्, रसादेश्चाक्षुषद्रव्यविशिष्ट-

शङ्का करते हैं कि "मैं घटको नहीं जानता" इस प्रतीतिमें अज्ञानके व्यावर्तक ( विशेषक ) घटसे सम्बद्ध हुए बिना उसका साक्षीसे भान तो नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्य विषयोंके प्रतिभासकी सिद्धि अपनेसे ( साक्षीसे ) सम्बद्ध प्रमाणके ( अन्तःकरणसे युक्त चक्षु आदिके ) अधीन है। प्रमाणसे भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि प्रमाणव्यापारके होते ही अज्ञान निवृत्त हो जाता है। तो इस शङ्काका समाधान यह है कि यद्यपि आपका कहना सच है तथापि केवल घटादि बाह्य विषयोंके साक्षिवेद्य नहीं होनेपर भी अज्ञातत्वधर्मविशिष्ट विषयोंका अज्ञानके द्वारा सम्बन्ध हो जानेसे साक्षीसे प्रतीति हो ही सकती हैं। यदि शङ्का हो कि केवल विषय साक्षी से वेद्य नहीं है तो विशिष्ट भी साक्षिवेद्य कैसे होगा ? जैसे कि केवल रसादिके चक्षुसे वेद्य न होनेसे चाक्षुष द्रव्य ( आम्रादि ) विशिष्ट होनेपर भी वे चक्षुसे वेद्य नहीं होते हैं। तो यह

है। परन्तु एक देश या एक कालमें भी दो भावोंका रहना कोई विरुद्ध नहीं है। जैसे एक ही देश और कालमें घट और पट दो भाव पदार्थ रह सकते हैं वैसे ही हमारे मतमें ज्ञान अज्ञान दोनों भाव पदार्थ हैं। इससे उनका एक ही अधिकरणमें तथा एक कालमें रहना व्याहत नहीं है। साक्षिज्ञान ही जैसे विषय तथा आश्रय दोनोंका प्रतिभासरूप है वैसे ही विषयका विशेष्य होनेसे भावरूप अज्ञानका भी प्रतिभासरूप है अपने प्रतिभाससे (ज्ञानसे) अपना नाश कहीं नहीं देखा गया। अन्यथा घटज्ञानसे घटनिवृत्ति हो जानी चाहिए। ज्ञानका अज्ञानसे विरोध तब आता जब हम भी वादीकी भाँति अज्ञानको ज्ञानका अभावरूप मानते, किन्तु ऐसा हम मानते नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि अपने साधक साक्षिज्ञानका कोई विरोध नहीं है—विरोध है पूर्वोक्त वृत्तिज्ञानसे। यहां इस शंकाका भी अवकाश नहीं है कि वृत्तिज्ञान भी तो वस्तुतः साक्षिज्ञान ही है ( बिम्ब-प्रतिबिम्बमें अभेद माना जाता है ) केवल वृत्तिरूप उपाधि है। तब अपनेसे भासित होनेवाले अज्ञानका अपने ही द्वारा नाश कैसे होगा; क्योंकि देखा गया है कि सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले तिनका—फूस आदि को आतशी शीशा द्वारा आकर सूर्यप्रकाश स्वयं भस्म कर देता है वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिए।

स्याऽपि चाक्षुषत्वादर्शनादिति, परमाणोः केवलस्य मानसप्रत्यक्षत्वाभावेऽपि 'परमाणुमहं जानामि' इति ज्ञानविशेषणतया मानसप्रत्यक्षविषयत्वस्य परैरङ्गीकारात्। लोकेऽपि राहोः केवलस्याऽप्रत्यक्षत्वेऽपि चन्द्राद्युपरक्तस्य प्रत्यक्षत्वदर्शनात्। परमतेऽपि 'घटमहं न जानामि' इत्यत्र ज्ञानाभावविशेषणस्य घटस्य प्रतीत्यप्रतीत्योर्दूषणस्याऽभिहितत्वात्। तस्मात् सर्वं वस्तु ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिचैतन्यस्य विषय एव। ननु तर्हि ज्ञाताज्ञातविषयभेदो न स्यात् तथा प्रमाणव्यापारवैयर्थ्यं तदन्वयव्यतिरेकविरोधश्चेति चेद्, मैवम्; यद्वदज्ञानमज्ञातत्वधर्मं स्वविषये संपाद्य तस्य साक्षिणा

---

भी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि केवल परमाणुके मानसप्रत्यक्षविषय न होनेपर भी दूसरे दर्शनकारोंने 'परमाणुको मैं जानता हूँ' इस ज्ञानके विशेषणरूपसे उसमें मानसप्रत्यक्षकी विषयता मानी है। और लोकमें भी राहुका स्वतः प्रत्यक्ष न होनेपर भी चन्द्रादिके सम्बन्धसे उसका प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है। [ यह कहना भी सङ्गत नहीं हो सकता कि भावरूप अज्ञान माननेसे उसकी उपपत्तिके लिए इतनी कष्टप्रद कल्पना करनेकी अपेक्षा अज्ञान ज्ञानाभावरूप ही क्यों न मान लिया जाय ? इस आशङ्कासे कहते हैं कि] दूसरे दर्शनकारोंके ( नैयायिक आदिके ) मतमें अज्ञानको अभावरूप माननेपर भी 'घटको मैं नहीं जानता' इस प्रतीतिमें घटाभावके विशेषणीभूत घटकी प्रतीति या अप्रतीतिमें दूषण (प्रतीति होनेसे व्याघात अप्रतीति होनेसे घटाभावज्ञानका ही असम्भव होगा, इस प्रकार दूषण) दे ही चुके हैं। इससे सभी वस्तुएँ कुछ ज्ञानके विशेषणरूपसे और कुछ अज्ञानके विशेषणरूपसे साक्षीरूप चैतन्यकी विषय हैं—अर्थात् साक्षी ज्ञातत्वरूपसे और अज्ञातत्वरूपसे सभी वस्तुओंको विषय करता ही है। [जो ज्ञानका विषय है वह ज्ञात और जो अज्ञानका विषय है वह अज्ञात कहलाता है। अज्ञात वस्तुका ज्ञान करानेके लिए प्रमाणव्यापार अपेक्षित होता है, तदनन्तर विषयका ज्ञान होता है, ऐसा सिद्धान्त है। ऐसी स्थितिमें यदि आपके (वेदान्त) मतमें सभी वस्तुएँ साक्षिज्ञानकी विषय हैं, तो सब ज्ञात ही होंगे, पुनः ज्ञाताऽज्ञातव्यवस्था नहीं बनेगी, इस प्रकार शङ्का करते हैं ] तब तो ज्ञात और अज्ञात विषयोंकी व्यवस्था ही न बनेगी और प्रमाणव्यापार भी व्यर्थ हो जायगा और प्रमाणव्यापार होनेपर ज्ञातता होती है, प्रमाणव्यापार न होनेपर नहीं होती है, इस अन्वय और व्यतिरेकका विरोध भी होगा। समाधान करते हैं कि

सम्बन्धं घटयति तद्वत् प्रमाणमपि ज्ञातत्वं धर्मं स्वविषये संपाद्य तस्य साक्षिणा सम्बन्धघटकमित्यङ्गीकारेणोक्तदोषनिवृत्तेः। तदेवमुक्तोपपत्तिसहित-महमज्ञ इति प्रत्यक्षं भावरूपाज्ञाने प्रमाणम्।

तथाप्यनुमानैकरुचिं प्रति तदप्युच्यते प्रत्यक्षवदुपपत्त्यपेक्षां विना साक्षादेव भावरूपत्वसाधनाय। विमतं प्रमाणज्ञानम्, स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकं भवितुमर्हति, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रकाशवद्, इति। ज्ञान-

---

उक्त शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जैसे अज्ञान अपने विषयमें अज्ञातत्व धर्मका सम्पादन करके उस विषयका साक्षीसे सम्बन्ध करा देता है, वैसे ही प्रमाण भी अपने विषयमें ज्ञातत्व धर्मका सम्पादन करके उसका साक्षीसे सम्बन्ध जोड़ देता है, इस सिद्धान्तका अङ्गीकार करनेसे उक्त दोषकी निवृत्ति हो जाती है। इन पूर्वोक्त युक्तियोंके द्वारा 'अहमज्ञः' ( मैं अज्ञानी हूँ ) यह प्रत्यक्षप्रतीति भावरूप अज्ञानमें प्रमाण हुई।

* तथापि—प्रत्यक्षसे भावरूप अज्ञानके सिद्ध होनेपर भी 'बद्धमुष्टिवानरन्याय' से तर्क हीमें विश्वास रखनेवालोंके प्रति प्रत्यक्षमें जैसे उपपत्तियोंकी अपेक्षा होती है, वैसे अनुमानमें नहीं होती, अतः उपपत्तियोंके बिना ही अनुमान साक्षात् साध्यकी सिद्धि करता है, वह स्वयं उपपत्तिस्वरूप है, इसलिए भावरूप अज्ञानके साधनके लिए अनुमान प्रमाण भी कहते हैं—

विवादग्रस्त प्रमाणज्ञान अपने प्रागभावसे अतिरिक्त, अपने विषयका आवरण, अपनेसे निवर्त्य और अपने अधिकरणमें स्थित वस्त्वन्तरपूर्वक होता है, अर्थात् स्वप्रागभावव्यतिरिक्त आदि चार विशेषणोंसे विशिष्ट स्वभिन्न अन्य वस्तु प्रमाणज्ञानकी उत्पत्तिसे पूर्व अवश्य रहती है, अप्रकाशित अर्थका प्रकाश करनेवाला होनेसे; अन्धकारमें प्रथम उत्पन्न प्रदीपके प्रकाशके समान [ क्रमशः

---

* प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वश्रेष्ठ होनेपर भी भ्रमादिसाधारण देखा गया है। अतएव अपने प्रामाण्यके लिए वह परीक्षाकी आवश्यकता रखता है। परीक्षोत्तीर्ण ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है। प्रमाणन्तरोंसे तथा व्यवहारसे संवाद या विसंवादके निराकरणादि प्रकारसे ही परीक्षा की जाती है, अतः पूर्वोक्त प्रत्यक्षप्रतीतिके प्रामाण्यकी रक्षाके निमित्त प्रमाणान्तरोंका संवाद दिखाते हैं—प्रमाणान्तरोंमें भी प्रथम तर्कप्रवण नैयायिकोंके मुखमुद्रणके लिए 'पररीत्या परो बोधनीयः' इस न्यायका अवलम्बन करके इस ग्रन्थसे भावरूप अज्ञानके साधनके लिए अनुमान भी प्रमाण दिखाते हैं।

मात्रस्य पक्षत्वे त्वनुवादज्ञाने हेत्वसिद्धिः स्यादिति प्रमाणेत्युक्तम्। तथा धारावाहिकव्यावृत्तये विमतमिति। वस्तुपूर्वकमित्येवोक्ते स्वाश्रयेणाऽऽत्मादिना सिद्धसाधनता स्याद्, अतो वस्त्वन्तरेत्युक्तम्।

तथा स्वाश्रयातिरिक्तसामग्रीं धर्मादिकं पूर्वज्ञानं प्रागभावं चाऽवरोहक्रमेण

---

अनुमान प्रयोगमें आये हुए पदोंके प्रयोजनका निरूपण करते हैं ]—यदि पक्षमें प्रमाणपद नहीं दिया जाता, तो ज्ञानमात्र पक्ष होता। अनुवादज्ञानमें हेतु न जानेसे हेत्वसिद्धि दोष आ जायगा, [ क्योंकि अनुवादज्ञान पूर्व प्रकाशित अर्थका ज्ञान है, अप्रकाशित अर्थका नहीं, इससे उसमें हेतुकी असिद्धि हुई ] अतः सब ज्ञान न लिए जायँ, यह प्रमाणपद देनेका प्रयोजन हुआ। धारावाहिक प्रमाण ज्ञानकी व्यावृत्तिके लिए विमत* पद दिया गया है। यद्यपि वस्तुपूर्वक इतना ही कह देनेसे भी निर्वाह हो सकता था, तथापि प्रमाणज्ञानके आश्रयीभूत आत्मादिको लेकर सिद्धसाधन दोष होगा, अतः वस्त्वन्तर पद दिया गया है। [ आदिपदसे अन्तःकरण और उसकी वृत्ति आदि लिए जायेंगे ]।

उसी प्रकार अवरोहक्रमसे 'स्वदेशगत' आदि चारों विशेषण स्वाश्रयसे अतिरिक्त सामग्रीकी, धर्मादिकी, पूर्वज्ञानकी और स्वप्रागभावकी व्यावृत्ति करते हैं †।

---

* तात्पर्य यह है कि विषयेन्द्रियसंयोगसे घटका प्रमात्मक ज्ञान होता है। जब तक इसकी विरोधी दूसरी कोई वृत्ति नहीं होगी तब तक दीपशिखाकी भाँति उसके अनेक ज्ञानोंकी धारा बनी ही रहेगी। यह ज्ञानधारा सजातीय होनेसे प्रमाणज्ञान कहलाती है। उत्तर-उत्तर धाराके पूर्व-पूर्व धारा वस्त्वन्तर है। अतः धाराज्ञानमें सम्पूर्ण विशेषणोंके जानेसे धाराज्ञान भी पक्ष हो जायगा, जो इष्ट नहीं है, क्योंकि निरुक्त धारावाहिक ज्ञानको उक्त रीतिसे वस्त्वन्तर-पूर्वक सभी मानते हैं, अतः सिद्धसाधन दोष आ जायगा। इसलिए विमतम्, ( विवादग्रस्त ) पद दिया गया है। धारावाहिक ज्ञानमें किसीका विवाद न होनेसे वह पक्षकोटिमें नहीं आ सकता।

† स्वाश्रयसे अतिरिक्त चक्षुरादि सामग्रीका निवारण करनेके लिए स्वदेशगत विशेषण दिया गया है। कार्यमात्रके प्रति धर्मादि—अदृष्ट कारण माना गया है, अतः उसको लेकर सिद्धसाधन या अर्थान्तर न हो जाय, इसलिए स्वनिवर्त्यपद दिया गया है। प्रमाणज्ञानसे धर्मादिकी निवृत्ति नहीं होती है, योग्यविभुगुणोंको स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्व होनेसे पूर्वज्ञान उत्तर प्रमाणज्ञानसे निवर्त्य होता है और उस प्रमाणज्ञानसे पूर्व भी रहता है, अतः इसकी व्यावृत्ति करनेके लिए स्वविषयावरणपद दिया गया है। पूर्वज्ञान स्वनाशक उत्तर ज्ञानके विषयका आवरण नहीं करता। एवं कार्यके प्रति प्रागभाव कारण माना गया है।

स्वदेशेत्यादिविशेषणचतुष्टयेन निवर्तयति। एतावता च विवक्षितविशेषं भावरूपाज्ञानं सिध्यति। धारावाहिकज्ञानेषु व्यभिचारं वारयितुम् अप्रकाशितेति। धारावाहिकप्रभासूभयवैकल्यं वारयितुं प्रथमेति। आतपवति देशे समुत्पन्नदीपप्रभायां तद्वारयितुमन्धकारे इति।

अनिर्वचनीयस्य ज्ञानार्थरूपद्विविधाध्यासस्याऽन्यथानुपपत्त्या तदुपादानस्याऽज्ञानस्याऽनिर्वचनीयत्वम्। न चाऽन्यथाप्युपपत्तिस्तस्य सत्यत्वे तत्कार्यस्याऽपि सत्यत्वप्रसङ्गात्। तथा च मूलकारणत्वान्यथानुपपत्त्याऽनादित्वम्। सादित्वे चोपादानपरम्परापेक्षायां मूलकारणं न सिध्येत्। तदेवमनाद्यनिर्वाच्यभावरूपाज्ञानमात्माश्रितमात्मविषयमध्यासस्योपादानमिति सिद्धम्।

ननु किमिदमज्ञानमात्मानमिवानात्मानमप्यावृणोति किं वा नावृ-

---

इस अनुमानसे विवक्षित है विशेष जिसका, ऐसा भावरूप अज्ञान सिद्ध होता है। धारावाहिकज्ञानमें हेतुके व्यभिचारवारण करनेके लिए 'अप्रकाशित' पद दिया गया है। [ दृष्टान्तवाक्यके पदोंकी मीमांसा करते हैं ]—धारावाहिक दीपप्रभाओंमें साध्य और हेतु दोनोंका अभाव है, अतः असिद्धिरूप दोषका वारण करनेके लिए 'प्रथम' पद दिया गया है। सूर्यके प्रकाशवाले देशमें जलाये गये दीपकी प्रभामें व्यभिचारवारण करनेके लिए अन्धकार पद दिया गया है।

ज्ञान और अर्थके भेदसे उक्त द्विविध अनिर्वचनीय अध्यासकी अन्यथानुपपत्तिसे उस अध्यासके प्रति उपादानभूत अज्ञान भी अनिर्वचनीय ही सिद्ध होता है। अध्यासकी अन्यथा उपपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि उस कारणको सत्य माननेसे कार्य भी सत्य हो जायगा। इसलिए मूलकारणकी अन्यथानुपपत्तिसे इस अज्ञानमें अनादित्व ही सिद्ध होता है। उसको सादि माननेपर उपादानपरम्पराकी अपेक्षासे मूलकारण भी सिद्ध न हो सकेगा। इस प्रकार आत्माका आश्रय करके आत्माको विषय करनेवाला अनिर्वचनीय भावरूप अनादि अज्ञान ही अध्यासके प्रति उपादानकारण सिद्ध हुआ।

क्या यह पूर्वोक्त रीतिसे सिद्ध भावरूप अज्ञान जैसे आत्माको आवृत करता है, वैसे ही अनात्माको आवृत करता है या नहीं? आवृत करता है, यह

---

उक्त विशेषणविशिष्ट प्रागभावको ग्रहणकर पूर्वोक्त सिद्धसाधन या अर्थान्तर न हो जाय, इससे स्वप्रागभावव्यतिरिक्त पद दिया गया है, यह भाव है।

णोति ? नाऽऽद्यः ; प्रमाणप्रयोजनयोरभावात् । तथा हि 'इदं नीलम् अज्ञानेनावृतम्' इति प्रमाणेन ग्रहीतव्यम्, तच्च नीलप्रतीत्यप्रतीत्योर्न संभाव्यते । अथ मन्यसे नीलावगतिकाल एवाऽज्ञानावरणासंभवेऽपि नीलावगतेः पूर्वकालीनमावरणं गम्यत एवेति, तन्न; गमकानिरूपणात् । किमिदानीमवगतत्वं गमकं किं वा इदानीमेवेत्यवधारणम्, किं वा तदेवेदं नीलमिति प्रत्यभिज्ञान्यथानुपपत्तिः ? आहोस्विदभिज्ञाप्रत्यभिज्ञयोर्मध्ये ज्ञानस्मृत्यभावान्यथानुपपत्तिः ? नाऽऽद्यः, धारावाहिकज्ञानेषु पूर्वमवगतस्यैव पश्चा-

---

पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि वह अज्ञान अनात्माको आवृत करता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है और प्रयोजन भी नहीं है। यदि अज्ञान अनात्माको आवृत करेगा, तो 'यह नील अज्ञानसे आवृत है' इस प्रकारके किसी प्रमाणसे ही अनात्माके आवरणका ग्रहण करना होगा। परन्तु इस प्रकारके प्रमाणका नीलकी प्रतीति या अप्रतीति कालमें सम्भव नहीं है। [ तात्पर्य यह कि जिस प्रमाणसे आपको नीलका अज्ञानसे आवृत होना प्रतीत हुआ है, उस प्रमाणसे यदि नीलकी प्रतीति हो तो व्याघात होगा अर्थात् नीलकी प्रतीति होनेपर फिर वह कैसे आवृत होगा ? यदि नीलकी प्रतीति नहीं होती यह माना जाय, तो नीलके ऊपर अज्ञानकृत आवरणने कुछ अतिशय उत्पन्न किया, यह कैसे ज्ञात होगा और इसमें उक्त प्रमाणका प्रामाण्य भी कैसे होगा ] अब शङ्का करनेवाला कहता है कि यद्यपि नीलके ज्ञानकालमें ही अज्ञान द्वारा होनेवाले आवरणका सम्भव नहीं है, तथापि नीलज्ञान होनेके पूर्वकालमें आवरणकी प्रतीति होती ही है, यदि इसे नहीं माना जाय तो नीलज्ञानके पूर्वकालमें भी नीलकी प्रतीति होनी चाहिए। समाधान करते हैं कि नहीं—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इस अवगतिके पूर्वकालिक आवरणका गमक (सिद्ध करनेवाला हेतु) कोई नहीं बन सकता, क्योंकि उक्त विषयमें प्रश्न हो सकता है कि क्या इस समयमें वस्तुका अवगम गमक है ? या इसी समयमें वस्तुका अवगम, इस प्रकार अवधारणगर्भित अवगम गमक है ? 'अथवा तदेवेदं नीलम्' (यह वही नील है) इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञाकी अन्यथा अनुपपत्ति गमक है ? आहोस्वित् अभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञाके मध्यमें ज्ञानजन्य स्मृतिके अभावकी अन्यथा अनुपपत्ति गमक है ? इन चारों विकल्पोंमें से कोई भी गमक नहीं हो सकता, क्योंकि 'अभी अवगत होना सूचित करता है कि अब तक अनवगत अर्थात् आवृत था' इस आशयसे किया गया

दप्यवगमेन पूर्वकालीनावरणं विनैवेदानीमवगतत्वसंभवात् । न द्वितीयः, अन्योन्याश्रयत्वात्—पूर्वावरणसिद्धाविदानीमेवेत्यवधारणसिद्धिस्तत्सिद्धावितर-सिद्धिरिति । न तृतीयः, अभिज्ञाय कंचित्कालं विस्मृतस्यैव प्रत्यभिज्ञेति नियमाभावात् । सर्वदा स्फुरत्यप्यात्मनि सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञानदर्शनात् । न चतुर्थः, अभिज्ञाप्रत्यभिज्ञयोर्मध्येऽप्यावरणविरहितत्वेनोत्पन्नानामेव ज्ञानानां स्मृत्यभाव इत्यपि सुवचत्वात् । नहि यद्यदनुभूतं तत्तत् स्मर्येत

---

प्रथम विकल्प उचित नहीं है, क्योंकि धारावाहिक ज्ञानोंमें पूर्वमें अवगतका ही पीछे भी अवगम होता है । उस पश्चाद्भावी अवगमका विषय ही अब अवगत हुआ है, ऐसा व्यवहार होता है, और पीछे होनेवाले अवगमके पूर्वकालमें अनवगम न रहनेसे उसका आवरण भी नहीं है । अतः प्रथम विकल्पमें व्यभिचार आया । उत्तरकालवैशिष्ट्य तो पूर्वकालमें अज्ञात ही है, इस प्रकार व्यभिचारका वारण करना उचित नहीं है, क्योंकि पूर्वकालमें हुई अवगतिका विषयभूत अर्थ ही 'अवगम कर रहा हूँ' इस उत्तरकालविशिष्ट अव-गतिका विषय है, इससे विशेषणभूत अर्थके होनेसे व्यभिचार बना ही है । यदि इस कालसे पूर्वकालमें आवरण नहीं रहा, तो 'अभी जाना' ऐसा अवधारण क्यों ? इस आशयवाला द्वितीय विकल्प भी गमक नहीं हो सकता, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष होगा—पूर्वकालमें आवरणके सिद्ध होनेपर अभी ही जाना गया, ऐसा अवधारण सिद्ध होगा और इस अवधारणके बलसे पूर्वकालमें अनवगतिका प्रयोजक आवरण सिद्ध होगा । पूर्वापरकालसम्बन्धको विषय करने-वाली प्रत्यभिज्ञा मध्यमें आवरणकी फलभूत अनवगतिके बिना नहीं हो सकती । तृतीय विकल्प भी युक्तिसह नहीं है, क्योंकि किसी वस्तुके पूर्व अनुभवके बाद कुछ कालके अनन्तर उसको भूल जानेसे ही प्रत्यभिज्ञा होती हैं, यह कोई नियम नहीं हैं, कारण कि आत्माका सर्वदा नित्यस्फुरण होनेपर भी 'सोऽहम्' ( वही मैं हूँ ) ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है । पूर्वोक्त चतुर्थ विकल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि अभिज्ञा और प्रत्यभिज्ञाके मध्यमें आवरणके न होनेपर उत्पन्न हुए ज्ञानोंका ही स्मरण नहीं होता, ऐसा कह सकते हैं [ एतावता स्मरण नहीं होता, ऐसी बात नहीं है ] क्योंकि अनुभवसे जो जो ज्ञात होते

**एवेति नियमोऽस्ति। न च वाच्यं 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' इति विषयसंबन्ध्यज्ञानमनुभूयते सम्बन्धश्चाज्ञानस्याऽऽवरणत्वेनात्मनि दृष्टस्तत्कथमपलप्यत इति। साक्षिचैतन्येन स्वस्मिन्नध्यस्तानामज्ञानविषयतत्सम्बन्धानामनुभवाङ्गीकारात्। सम्बन्धश्चाज्ञानविषययोः कार्यकारणभावलक्षणो नावरकाव्रियमाणत्वलक्षणः, अध्यस्तस्याऽऽवरणायोगात्। प्रतीतिकाले तावदावरणं व्याहतम्। अप्रतीतिकाले तु स्वयमेव नास्ति, द्विचन्द्रादिवदध्यस्तस्य प्रतीतिमात्रशरीरत्वात्। यद्यध्यस्तमप्याव्रियेत तदा तत्प्रतिभासः कदाचिदपि न स्यात्; अध्यस्तस्य मानाऽगोचरत्वेन तदावरणानिवृत्तेः। प्रमाणगम्यं हि वस्तु**

हैं उन सबका स्मरण होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। कारण कि मार्गमें उदासीनभावसे अनुभूत तृणादिका स्मरण नहीं होता है, यह सर्वानुमत है।

'मैं आपके कहे हुए अर्थको नहीं जानता हूँ' * इस प्रतीतिमें विषयके सम्बन्धी अज्ञानका अनुभव है, और अज्ञानका आवरणत्वरूप सम्बन्ध भी आत्मामें देखा गया है। इस दशामें उसका अपलाप ( न मानना ) कैसे सम्भव है? समाधान करनेवालेका कहना है कि उक्त प्रतीतिमें अर्थात् 'तुम्हारे कहे हुए अर्थको मैं नहीं जानता' इस प्रतीतिमें साक्षीमें अध्यस्त अज्ञान, उसका विषय तथा अज्ञान विषयके सम्बन्ध आदिका ही साक्षी चैतन्यके द्वारा अनुभव अङ्गीकार किया गया है। अज्ञान और विषयका परस्पर सम्बन्ध कार्यकारणभावरूप है, आवरणाव्रियमाणत्वरूप नहीं है, क्योंकि स्वयं विषय ही आत्मामें अध्यस्त है और अध्यस्त पदार्थमें आवरणका सम्बन्ध नहीं हो सकता। विषयकी प्रतीतिके कालमें उसका आवरण है, यह कहना तो विरुद्ध ही है। और जिस कालमें उस अध्यस्तकी प्रतीति नहीं है, उस कालमें तो वही स्वयं नहीं है, क्योंकि अध्यस्त तो द्विचन्द्रादिके तुल्य प्रतीतिमात्रशरीर होता है, इससे विषयकी अप्रतीतिके कालमें तो आवरणका सम्भव ही नहीं हो सकता। यदि अध्यस्तका भी आवरण मान लिया जाय, तो उसकी प्रतीति कभी हो ही नहीं सकती। क्योंकि अध्यस्त द्विचन्द्रादि पदार्थोंमें प्रमाणकी विषयताके न होनेसे उसके आवरणकी कभी भी

* युक्तियोंसे विषयमें आवरण की सिद्धि नहीं हो सकती, तो न सही, परन्तु 'मैं अमुक वस्तुको नहीं जानता' इस प्रतितिसे विषयका आवरण प्रतीत होता ही है और प्रतीयमानका अपलाप भी नहीं कर सकते, इसलिए विषयमें आवरण मानना चाहिए, इस आशयसे शङ्का करते हैं।

परमार्थत्वादप्रतीयमानमपि तिष्ठति तत्कथंचिदाव्रियेतापि, अध्यस्तं तु माननिवर्त्यं तत्कथं नामाऽऽव्रियेत। तस्मात् नाऽस्त्येवानात्मावरणे प्रमाणम्।

तथा प्रयोजनं च दुःसंपादम्, सर्वत्र ह्यावरणस्य प्रसक्तप्रकाशप्रतिबन्धः प्रयोजनम्। तदत्र किमनात्मनि स्वतःप्रकाशः प्रसक्तः? किं वा प्रमाणबलात्? चैतन्यबलात्? नाद्यः, जड़त्वात्। न द्वितीयः, माननिवर्त्यस्यावरणस्य तत्प्रतिबन्धकत्वायोगात्। न तृतीयः, चैतन्यावरणादेव तत्सिद्धावनात्मनि पृथगावरणकल्पनावैयर्थ्यात्। नहि सूर्ये मेरुव्यवहिते सति रात्रावारणप्रतिबन्धाय छत्रादिकमपेक्ष्यते। अथाऽभ्रच्छन्नेऽपि सवितर्यौष्ण्याख्यसूक्ष्मातपप्रतिबन्धाय छत्राद्यपेक्षावदत्राऽप्यज्ञानावृतचैतन्यकृतप्रकाशलेशमपि वारयितुं पृथगावरणमित्युच्येत; तदसत्; किमेकमेव अज्ञानमात्माश्रय-

---

निवृत्ति ही नहीं होगी। प्रमाणगम्य वस्तुके पारमार्थिक होनेसे वह अप्रतीयमान भी कदाचित् हो सकता है, अतः उसको आवृत मानना भी ठीक है, और अध्यस्त, तो प्रमाणसे निवृत्त होता है, अतः उसमें आवृतत्व कैसे रह सकता है, इसलिए विषयके आवरणमें कोई भी प्रमाण नहीं है।

इसी प्रकार विषयका आवरण माननेमें कोई प्रयोजन भी नहीं है, क्योंकि आवरणका सर्वत्र यही प्रयोजन होता है कि विद्यमान प्रकाशका प्रतिबन्ध हो। इस परिस्थितिमें क्या अनात्मामें प्रकाशकी प्रसक्ति स्वयं है? या प्रमाणके बलसे? अथवा चैतन्य द्वारा? प्रथम पक्ष अर्थात् अनात्मामें स्वयं तो प्रकाश हो नहीं सकता, क्योंकि अनात्मा जड़ पदार्थ है। द्वितीय विकल्प भी नहीं बन सकता, क्योंकि प्रमाणसे निवृत्त होनेवाला आवरण प्रमाणसे प्रसक्त प्रकाशका प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। तीसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि चैतन्यके ही आवरणसे अनात्माका भी आवरण सिद्ध हो जायगा, अतः अतिरिक्त अनात्माका आवरण मानना निष्प्रयोजन है, क्योंकि सूर्यके मेरु द्वारा व्यवहित होनेपर रात्रिमें सूर्यतापके निवारण करनेके लिए कोई छाताका उपयोग नहीं करता है। यदि शङ्का हो कि सूर्यके मेघ द्वारा आच्छन्न होनेपर भी साधारण उष्णरूप गर्मीका प्रतिबन्ध करनेके लिए जैसे आवरणकी अपेक्षा की जाती है, वैसे ही प्रकृतमें भी अज्ञान द्वारा आवृत चैतन्यके साधारण प्रकाशका निरास करनेके लिए पृथक् आवरण मानना चाहिए,

**यतोऽवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषद्भवेत् ।**
**यथोक्तविद्याहेतुत्वाद्ग्रन्थोऽपि तदभेदतः ॥ ८ ॥**

तत्त्वज्ञान कैसे होगा और क्या है? इस विषयमें विप्रतिपत्ति है, किन्तु तत्त्वज्ञानसे मिथ्या ज्ञान नष्ट होता है और मिथ्याज्ञानके नष्ट होनेसे सांसारिक दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है, इसमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं है। सोलह पदार्थोंका ज्ञान तत्त्वज्ञान है, ऐसा नैयायिक मत है। पच्चीस पदार्थोंका ज्ञान तत्त्वज्ञान है, ऐसा सांख्य कहते हैं। पुरुष सहित सांख्योक्त पदार्थोंका ज्ञान तत्त्वज्ञान है, ऐसा योगी कहते हैं। अद्वितीय ब्रह्मका ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है, ऐसा अद्वैतवादी कहते हैं, शून्य ही तत्त्व है, यह बौद्ध कहते हैं एवं जीवाजीवाख्य दो तत्त्व हैं, ऐसा आर्हत कहते हैं। प्रकृत शास्त्राभिमत तत्त्व-ज्ञानोत्पत्तिका प्रकार इस शास्त्रमें बतलाया जायगा, किन्तु चित्तका तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके योग्य होना आवश्यक है, अन्यथा ग्रन्थोक्त उपायसे भी तत्त्वज्ञान न होगा। यही कारण है कि कितने ही लोग उपनिषत्का अध्ययन करते हैं, पर अनधिकारी होनेसे फल कुछ नहीं होता, इसी वास्ते पहले अधिकारीके स्वरूपका निर्देश किया गया है। ऐहिक और पारलौकिक भोगोंमें विराग भी चार साधनोंके अन्तर्गत है, यह कठिन होनेपर भी निरुपाय नहीं है। इसका उपाय है नित्यानित्यविवेक। संक्षेपसे नित्य सत्य ब्रह्म है और अनित्य शरीरेन्द्रियादि प्रपञ्चमात्र है। जो नित्य है, वही सुख है और जो अनित्य है वही दुःख है, यह विवेक ईश्वरार्पण बुद्धिसे नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठानसे ही होता है, चाहे वह इस जन्मका हो अथवा जन्मान्तरका हो, इस विषयका प्रतिपादन साधनचतुष्टयनिरूपणके समय विशेषरूपसे करेंगे।

सारांश यह है कि परिशुद्धचित्त अधिकारी पुरुषको ग्रन्थाभ्यासजन्य आत्मैकत्वरूप तत्त्वज्ञान अवश्य होगा वही प्रवृत्त्यादिके मूलभूत रागादि दोषसहित अविद्याका नाश कर स्वाभिन्न ब्रह्मरूप मोक्षकी प्राप्ति करावेगा, इस तात्पर्यसे 'गमयति' कहा। 'गमयति' का तात्पर्य है—बोधयति-प्रकाशयति—साक्षात्कारयति, क्योंकि 'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' ऐसी श्रुति है। ]

अब पूर्वोक्त शङ्काका समाधान करते हैं—**'यतोऽवसादयेत्'** इत्यादिसे। उपनिषत्शब्दका मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या ही है, किन्तु ग्रन्थ उसका उपाय है, इस वास्ते 'तादर्थ्यात्तच्छब्दः' इस न्यायसे यह ग्रन्थ भी उपनिषत् कहलाता है ॥ ८ ॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं—'लाङ्गलं जीवनम्' इत्यादि।

अर्थात् कृषकका जीवन हल है, हल तो वस्तुतः जीवन नहीं है, किन्तु जीवनका

भवेदुपनिषन्नामा लाङ्गलं जीवनं यथा ।
ऐकात्म्यविषयान्नान्यो वेदान्तवचसां यतः ॥ ९ ॥

साधन है, अतः लक्षणासे हल भी जीवन कहलाता है । 'अन्नं वै प्राणाः' यह वैदिक दृष्टान्त भी है, अन्नके प्राणसाधन होनेसे 'अन्नं वै प्राणाः' यह कहा गया है ।

शङ्का—अवसादन और शैथिल्यकरण दोनोंको कहनेका प्रकृतमें क्या प्रयोजन है । यास्कमुनिने संसारकी छः अवस्थाएँ बतलाईं हैं—जिसको षड्भावोर्मि भी कहते हैं । यथा 'उत्पद्यते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते अथ विनश्यति' । ( अपक्षय है—अवयवशैथिल्यरूप तदनन्तर विनाश होता है ) इस वचनसे तथा सर्वलोकानुभवसे यह क्रम सिद्ध होता है कि अवयवशैथिल्यके अनन्तर सबका विनाश होता है । अतः अर्थसिद्ध अवयवशैथिल्यका निर्देश करनेमें क्या अभिप्राय है ?

यह तो कोई नियम नहीं है, कि जिस धातुके जितने अर्थ हैं उन सबकी एक ही कालमें उस धातुके प्रयोग-से प्रतीति होती ही है । यदि ऐसा माने, तो 'मन्दते' इस प्रयोगसे एक कालमें स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति और गतिकी प्रतीति होनी चाहिए । केवल स्तुतिके तात्पर्यसे 'मन्दते' यह प्रयोग ही नहीं होगा, बल्कि एक समयमें उतने अर्थोंके एककर्तृक न होनेसे इस तरहके धातुओंके प्रयोगका असम्भव ही हो जायगा और एकवाक्यताकी हानि हो जायगी ।

समाधान—अवयवशैथिल्य कहनेका प्रयोजन यह है कि तत्त्वज्ञानी दो प्रकारके होते हैं—एक जीवन्मुक्त दूसरे परममुक्त । जीवन्मुक्तमें कार्यरूपसे अविद्या बनी रहती है, अन्यथा उसकी भिक्षादिमें भी प्रवृत्ति न होगी । तत्त्वज्ञान उत्पन्न होनेपर भी वह समूल और सकार्य अविद्याका निवर्तक नहीं हुआ, इस कारण विद्यामें अविद्या-निवर्त्तकत्व नहीं सिद्ध होगा । तब अविद्यानिवर्त्तक विद्याप्राप्तिके लिए अध्यात्म-शास्त्रश्रवणादिमें भी किसीकी प्रवृत्ति न होगी, इसलिए विद्याके दो कार्य बत-लाते हैं—एक अविद्याशैथिल्य और दूसरा अविद्यानाश । प्रारब्धकर्मनाशसहित विद्या अविद्याकी निवर्त्तिका है और प्रारब्धकर्मसहित विद्या अविद्याकी शैथिल्यस-म्पादिका है । जीवन्मुक्तमें नाशप्रतिबन्धकप्रारब्धकर्मसहित विद्यासे अविद्याका नाश न होनेपर भी नाशप्रागवस्थारूप अवयवशैथिल्य अवश्य होता है ।

प्रश्न—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥' इस श्रुतिसे तथा 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन !'

इस गीतावाक्यसे यदि तत्त्वज्ञानमें सर्वकर्मनाशकत्व स्पष्ट प्रतीत होता है, तो फिर प्रारब्धकर्मका नाश क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर—'तस्य तावदेव चिरं यावन्नविमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये' इत्यादि श्रुतिसे तथा 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इत्यादि स्मृतिवाक्योंसे पूर्वोक्त वचनोंका विरोध-परिहारके लिए प्रारब्धकर्मातिरिक्त कर्मनाशकत्वमें ही पूर्वोक्त वचनोंका तात्पर्य मानना चाहिए। अथवा चरम ज्ञानमें ही कर्मनाशकत्व है। उसके पूर्व ज्ञानोंमें अविद्याशैथिल्यजनकत्व ही है, नाशकत्व नहीं है। चरम ज्ञानके तात्पर्यसे 'भिद्यते' इत्यादि वाक्य है। पूर्व ज्ञानके तात्पर्यसे ही 'तस्य तावदेव' इत्यादि वाक्य है। इस तरह विषयका भेद होनेसे दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न—अच्छा, तो पूर्वोक्तवचनोंके विरोधका परिहार तो संसारदशामें कर्मोंका भोगसे नाश्यत्व और मोक्षदशामें कर्मोंका ज्ञानसे नाश्यत्व माननेपर भी हो सकता है, फिर मध्यमें जीवन्मुक्तिदशा माननेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—यदि जीवन्मुक्ति न मानी जाय, तो तत्त्वज्ञानोत्पादक शास्त्रोंका निर्माण ही असंभव हो जायगा, क्योंकि यदि तत्त्वज्ञानोत्पत्तिके समयमें ही शरीर-पात हो जाय, तो शरीर और इन्द्रियके अभावसे शास्त्रका कैसे निर्माण होगा और जिज्ञासुओंको साक्षात् भी उपदेश नहीं मिल सकेगा। अतः जीवन्मुक्तिदशा अवश्य माननी चाहिए। जीवन्मुक्तिदशामें यदि विद्या किसी तरह प्राप्त हुई है तो शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मों द्वारा पुण्य तथा पापके उदय होनेपर विहित और निषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्ति और निवृत्तिसे रागादि सब दोष चित्तमें अवश्य उत्पन्न होंगे, ऐसी परिस्थितिमें 'निर्दुष्ट चित्तमें विद्या उत्पन्न होती है दुष्ट चित्तमें नहीं' यह सिद्धान्त ही असंगत हो जायगा। विवेकवैराग्यादिसे चित्तभूमि परितप्त मरुभूमिके सदृश हो जाती है। उसमें जो पुण्य और पाप उत्पन्न होते हैं वे भूँजे हुए बीजके तरह भोगाङ्कुर-जननमें असमर्थ होते हैं। जो जन्मारम्भक पुण्य और पाप होते हैं, वे ही बन्धक होनेसे दोष हैं। रागाद्यात्मक बुद्धि द्वारा जो कर्म किए जाते हैं, उन्हींसे पुण्यादि फल उत्पन्न होते हैं और जो अनाभोगात्मक बुद्धिसे किए जाते हैं, वे बन्ध्य वृक्षके समान निष्फल होते हैं। प्रवृत्त्यादि द्वारा रागादिका अनुमान करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि रागादिके बिना भी लोकानुवृत्तीच्छासे कर्मानुष्ठान होता है। जैसे भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्रजीने गीतामें कहा है—यद्यपि मुझे कर्मफलकी इच्छा नहीं है, तथापि यदि मैं कर्मका त्याग कर दूँ तो जनता भी कर्मका त्याग कर देगी और नष्ट हो जायगी,

इसलिए मैं कर्म करता हूँ। ज्ञानी भी फलकी इच्छा न रहनेपर भी ऐसे ही कर्म करता है। और 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये' इत्यादि श्रुतिसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्त्वज्ञानोत्तर विदेहकैवल्यमें देहपातमात्रका ही विलम्ब है। यदि देह रहते तत्त्वज्ञान ही नहीं होता, तो 'तावदेव चिरं' यह कहना सर्वथा असंगत हो जायगा। इतिहास और पुराणोंमें जीवन्मुक्तकी कथाएँ बहुत हैं, अतः जीवन्मुक्तोंमें अविद्याका शैथिल्यमात्र तत्त्वज्ञानसे होता है, नाश नहीं होता। सर्वात्मना अविद्याका नाश विदेहदशामें ही होता है। रागादिनाश ही अविद्याशैथिल्य है, इसलिए जीवन्मुक्तिदशामें रागादिके सद्भावका सन्देह भी करना अनुचित है।

अच्छा तो ब्रह्मविद्या अविद्याको शिथिल करती है, अविद्यानाश करती है और शोधित आत्माको सामीप्योपलक्षित स्वस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति कराती है यह उपषित् शब्दका अर्थ सिद्ध हुआ। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि इससे यह भी प्रतीत होता है कि ब्रह्मविद्यासे किसीकी अविद्या शिथिलमात्र होती है, किसीकी नष्ट होती है और किसीको ब्रह्मस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है। तथा अनेक अर्थ होनेसे वाक्य-भेद भी होता है। 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं बोधयति' इस न्यायसे एक बार उच्चरित उपनिषत्शब्दसे तीनों अर्थ प्रतीत नहीं हो सकते, इसलिए तीनों अर्थोंकी प्रतीतिके लिए तन्त्र या तीन बार उपनिषत्शब्दका उच्चारण करना पड़ेगा और अनेकार्थक भी हो जायगा इत्यादि दोष होगा एवं अभिलषित अर्थकी सिद्धि भी न होगी। उपनिषत् शब्दका अभिमत अर्थ यह है कि विद्या समूल अविद्याको शिथिल कर, प्रारब्ध कर्मसे होनेवाले भोगानन्तर उसको नष्ट कर स्वस्वरूपाभिन्न मोक्षका सात्क्षाकार कराती है, इसलिए परस्पर विशेष्यविशेषणभावापन्नसदर्थत्रयका एक ही वाक्यार्थ मानना ठीक है। वह इस प्रकार होता है—विद्या समूल सकार्य अविद्याको शिथिल करके अन्तमें उसका विनाश कर स्वाभिन्न ब्रह्मस्वरूप मोक्षकी अभिव्यक्ति कराती है।

अब यह शङ्का होती है कि उपनिषत्से जो ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान होगा, जिसको कि समूल अविद्याका निवर्तक मानते हैं, वह प्रामाणिक नहीं है। कारण कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से द्वैत प्रमित है, इसलिए अद्वितीयत्वरूप विषय ही बाधित है। जैसे 'मत्कर्णकुहरं प्रविश्य सिंहो गर्जति' यह वाक्य विषयबाधसे अप्रामाणिक है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य भी अभेदके बाधित होनेसे अप्रामाणिक हैं। अप्रामाणिकवाक्यजन्य ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति कैसे हो सकती है? प्रत्युत अविद्यासे विद्याकी ही निवृत्ति हो सकती है, क्योंकि

अविद्या अनादि कालसे चली आ रही है, अतः दृढ़मूला है। अचिरोत्पन्न अद्वैतज्ञान अप्ररूढ़मूल होनेसे दुर्बल है, तथा प्रत्यक्षादि अनेक प्रमाण भेदज्ञानके सहायक हैं, विद्याका सहायक केवल अद्वैताम्नायमात्र है। प्रत्यक्षादिप्रमाणके साथ विरोधके परिहारके लिए श्रुतिका द्वितीय अर्थ माना गया है। यद्यपि 'आदित्यो यूपः' 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्योंसे आदित्याभिन्न यूप, यजमानाभिन्न प्रस्तर यह अर्थ शक्तिसे प्रतीत होता है तथापि प्रत्यक्षादिसे आदित्यका भेद यूपमें और यजमानका भेद प्रस्तरमें सिद्ध होनेसे अभेद बाधित है। इसलिए जैसे आदित्यादि पदकी सदृशमें लक्षणा कर 'आदित्यके सदृश यूप है' इत्यादि अर्थ किया जाता है, वैसे ही प्रकृतमें प्रत्यक्षादिके विरोधसे विषयके बाधित होनेसे श्रुतिका अर्थान्तर ही करना चाहिए, अभेद अर्थ नहीं करना चाहिए। अतएव 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इस श्रुतिसे अज्ञानादिकी निवृत्तिदशामें जीव और परमात्माका परमसाम्य हो जाता है, क्योंकि वे दोनों चैतन्यस्वरूप हैं। अज्ञानादि ही भेदक हैं उनकी निवृत्ति होनेपर जीव ब्रह्मके सदृश हो जाता है। और 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' यह श्रुति भी इसी अर्थकी पुष्टि करती है अथवा 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य अभेदज्ञान सम्पद्रूप हैं। अपकृष्ट अवलम्बनमें उसके रूपका तिरस्कार कर उत्कृष्ट वस्तुके अभेदका ध्यान करना सम्पद्रूप ज्ञान है। ध्यानमें आलम्बनको अप्रधान कर प्राधान्येन उत्कृष्ट वस्तुके अभेदका ही ध्यान करना चाहिए। जिस तरह अपनी वृत्तिके बदौलत मन अनन्त हैं और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं, अतः अनन्तत्वसादृश्यसे मनमें विश्वेदेवाका अभेदारोप कर प्राधान्येन चिन्तन करनेसे अनन्तलोकरूप फल-प्राप्ति होती है, इसी तरह ब्रह्मभिन्न जीवमें चेतनत्वसादृश्यसे ब्रह्माभेदका आरोप कर चिन्तन करनेसे मोक्षरूप फलकी प्राप्ति हो सकती है। अथवा 'आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत' इस श्रुतिसे ब्रह्मभिन्न आदित्यकी ब्रह्मबुद्धिसे जो उपासना विहित है वह अध्यास है। अध्यास और सम्पद्में इतना ही अन्तर है कि सम्पद्में आरोप्यमाणका प्राधान्येन चिन्तन किया जाता है और अध्यासमें आलम्बनका प्राधान्येन चिन्तन किया जाता है। 'अतस्मिन् शास्त्रतस्तद्बुद्धिः' अर्थात् तद्भिन्नमें तद्बुद्धि शास्त्र द्वारा करना दोनोंमें समान होनेसे दोनों ज्ञान मिथ्या हैं। अथवा 'वायुर्वाव संवर्गः' इत्यादि वायु प्रलयकालमें पृथिव्यादिको अपनेमें लीन करता है, अतः 'संवृङ्क्ते इति संवर्गः' तथा 'प्राणो वाव संवर्गः' सुषुप्ति-

**लभ्यते विषयः कश्चित्तस्मात्तद्धीस्तमोपनुत् ।**
**सा चात्मोत्पत्तितो नाऽन्यद् ध्वान्तध्वस्तावपेक्षते ॥ १० ॥**

कालमें वागादि इन्द्रियाँ प्राणमें लीन हो जाती हैं, अतः प्राण भी संवर्ग कहा जाता है । संवरणक्रियाके योगसे जैसे संवर्गरूपसे वायु तथा प्राण दोनोंका ध्यान होता है, वैसे ही 'बृंहयतीति ब्रह्म' इस व्युत्पत्तिसे बृंहणक्रियाकर्तृत्व जीव और ब्रह्म दोनोंमें है, इस कारण जीवका ध्यान भी ब्रह्मरूपसे किया जाता है । इस पक्षमें जीवमें ब्रह्मशब्दका प्रयोग गौण है । इस कारण 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञान अप्रामाणिक है । भेदग्राही प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके विरोधसे अभेदरूप जो वेदान्तविषय है, वह बाधित है; इसलिए जब वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान ही अप्रमाण है, तब इसके लिए ग्रन्थ बनाना सर्वथा असंगत है । इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं—**'ऐकात्म्यविषयात्'** इत्यादि ।

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे उपदिष्ट ऐकात्म्य ही वेदान्तका विषय है, दूसरा कोई विषय नहीं है; अतः अद्वैतात्मज्ञान अज्ञानका निवर्तक है । वह अद्वैतात्मज्ञान अज्ञान-निवृत्तिके लिए अपनी उत्पत्तिके अतिरिक्त अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करता ॥९।१०॥

[ अर्थात् 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्' इस प्राचीनोंकी उक्तिसे तथा 'अज्ञातार्थज्ञापकत्वं प्रामाण्यम्' लक्षणसे भी यह निश्चय होता है कि प्रमाणान्तरसे अप्राप्त ब्रह्मात्मैकत्व ही वेदान्तवाक्योंका विषय है, दूसरा नहीं ।

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥'

इस श्लोकमें निर्दिष्ट उपक्रम और उपसंहारके ऐक्य आदिसे भी ज्ञात होता है कि उक्तार्थमें ही उक्त वाक्योंका तात्पर्य है, अन्यत्र नहीं है । तथाहि—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'एकमेवा द्वितीयम्' इससे उपक्रम करके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् तत्सत्यं स आत्मा' यह उपसंहार किया गया है, 'तत्त्वमसि' इसके नौ बारका कथन अभ्यास है । बृहदारण्यकमें भी 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' यह उपक्रम है 'अयमात्मा ब्रह्म' यह अभ्यास है, 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' यह उपसंहार है, 'स एष नेति नेत्यात्मा' यह अभ्यास है और 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्' यह फल है । ऐतरेयकमें भी 'आत्मा वा इदमेक एव' यह उपक्रम है, 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्मततमपश्यत्' यह परामर्श है, 'प्रज्ञानं ब्रह्म' यह उपसंहार है । आथर्वण उप-

निषत्में भी 'कस्मिन् भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्' यह उपक्रम है, 'ब्रह्मैवेदम्' यह उपसंहार है। तैत्तिरीय-उपनिषत्में 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' 'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म' 'यो वेदनिहितं गुहायाम्' यह उपक्रम है और 'यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' यह परामर्श है। 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' यह उपसंहार है और 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति' यह फल है। सर्वत्र आत्मैकत्व अपूर्व है।

इस प्रकार उपक्रम और उपसंहारके ऐक्य आदिसे सब उपनिषदोंका तात्पर्य आत्मैकत्वमें ही निश्चित होता है, क्योंकि 'तात्पर्यार्थे शब्दः प्रमाणम्' यह सब विद्वानोंका सिद्धान्त है। अतः सदृशादि अर्थ माननेपर ये उपनिषद्वाक्य व्यर्थ ही हो जायँगे। गौणार्थक भी तभी हो सकेंगे जब कहीं मुख्यार्थक हों। इसी तरह संपदादिरूप अर्थमें तात्पर्य माननेपर 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंसे प्रतीयमान ब्रह्मात्मैकत्वका त्याग करनेसे स्वाभाविकाभेदान्वयबोधकत्वका भी त्याग करना पड़ेगा। रह गया प्रत्यक्षादिके विरोधका परिहार। यह तो अनेक प्रकारसे हो सकता है, उनमें प्रथम परिहार यह है कि जीव और ब्रह्मके भेदका तो प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता, कारण कि जीवके असली स्वरूपका ही प्रत्यक्ष यदि नहीं है तो ब्रह्मप्रत्यक्षकी बातका तो क्या पूछना है। सम्बन्धियोंके प्रत्यक्ष न होनेपर भेदका प्रत्यक्ष नहीं होता है। यदि कहिए कि 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' इत्यादि मानस प्रत्यक्ष सर्वजनसिद्ध है तो 'अहं गौरः' 'अहं कृशः' ऐसी प्रतीति शरीरमें भी है, अतः यह प्रत्यक्ष ही अप्रामाणिक है। इस तरह, शरीर, इन्द्रिय और मन इनसे अतिरिक्त सकलसंसारधर्मातीत आत्माका प्रत्यक्ष यदि नहीं हुआ तो फिर विरोध कैसा? यदि यह शङ्का हो कि आत्मैकत्व तब हो सकता है जब घट, पट आदि दृश्य पदार्थ भी न हों, किन्तु यह नहीं कह सकते, क्योंकि घट, पट आदि प्रत्यक्षसिद्ध हैं। यह भी ठीक नहीं है, कारण कि प्रत्यक्षमात्रसे पदार्थकी सत्ता नहीं सिद्ध होती। प्रत्यक्ष तो शुक्ति-रजतका भी होता है, इस कारण शुक्ति-रजतकी सत्ता तो नहीं मानी जाती। जैसे शुक्ति-रजत-ज्ञानका तो 'नेदं रजतम्' इस ज्ञानसे बाध होता है, इसलिए वह मिथ्या माना जाता है। यदि वास्तविक सत्ता होती तो रजतज्ञानका बाध ही नहीं होता वैसे ही 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि वाक्योंसे प्रपञ्चका भी तो बाध है, इसलिए प्रपञ्चकी भी सत्ता पारमार्थिक नहीं हो सकती।

प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः ।
ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्यागस्त्यागेनैक इति श्रुतेः ॥ ११ ॥

परीक्षिताप्रमाण्य प्रत्यक्ष अति दुष्ट है अतएव उस प्रत्यक्षका गृहीतप्रामाण्यक आगमज्ञानसे बाध होना अनिवार्य है। विशेष बातें विरोधके परिहारके समय लिखी जायँगी। सारांश यह निकला कि ब्रह्मैकत्व जो वेदान्तवाक्योंका विषय है वह वास्तविक है, इसलिए तद्विषयक आगम प्रमाण है वह उत्पन्न होते ही समूल अविद्याकी निवृत्ति कर देता है। यद्यपि अविद्या प्ररूढमूला है विद्या सद्यः उत्पन्न होनेसे अप्ररूढमूला है; फिर भी अप्रमासे प्रमा बलवती होती है यह सब विद्वानोंका सिद्धान्त है। यहां तक कि बाह्य—बौद्ध लोग भी यह कहते हैं कि 'निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः न बाधोऽयत्नवत्त्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः' तत्त्वज्ञानका मिथ्याज्ञानसे यत्न न करनेपर भी बाध नहीं हो सकता। कारण कि बुद्धिका पक्षपात तत्त्व ही में होता है, अतत्त्वमें नहीं होता, अतः ब्रह्मात्मैकत्वविषयक धी प्रमा है, इसलिए तदर्थ वेदान्तविचारके आवश्यक होनेसे ग्रन्थारम्भ भी आवश्यक ही है। आत्मैकत्वातिरिक्त वेदान्तका विषय ही नहीं है, इसलिए वेदान्तप्रामाण्यकी रक्षाके लिए वेदान्तविचारको ब्रह्मात्मैकत्वविषयक अवश्य मानना चाहिए। केवल विषयके अबाधित होनेसे ज्ञानके प्रामाण्यकी रक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि निष्प्रयोजनवत्त्व भी अप्रामाण्यका प्रयोजक है, इसलिए कहते हैं—'तद्धीस्तमोपनुत्' अर्थात् आत्मैकत्वज्ञान तमका—अज्ञानका—निवर्त्तक है। अज्ञानके निवृत्त होनेसे स्वतःसिद्ध आत्मस्वरूपानन्दरूप मोक्ष परमप्रयोजन अभिव्यक्त होता है जिससे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। ]

अब यह शङ्का होती है कि यद्यपि वेदान्तवाक्योंसे ब्रह्मात्मैकत्वबुद्धि हो सकती है तो भी केवल तादृश बुद्धि ही अविद्याकी निवर्त्तिका नहीं हो सकती। अन्यथा उपनिषद् ग्रन्थका अध्ययन करनेवाले जितने हैं, उन सबकी अविद्या निवृत्त हो जायगी, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता; इस कारण कर्मसहकृत विद्या अविद्याकी निवर्त्तिका है। अतः अविद्यानिवृत्ति केवल ब्रह्मविद्याका फल नहीं हो सकती। अच्छा तो कर्मको सहकारी कारण आप मानते हैं पर विद्याका फल क्या है? ब्रह्मस्वरूप साक्षात्कार तो फल हो नहीं सकता,

क्योंकि ब्रह्मस्वरूपसाक्षात्कार नित्य है और फल होता है अनित्य। यद्यपि उत्पाद्य तथा विकार्य ये दोनों फल अनित्य हैं और संस्कार्य तथा प्राप्य नित्यानित्य साधारण हैं तथापि संस्कार्य वही होता है जिसमें क्रियाजन्य अतिशय हो सके। जैसे कि प्रोक्षणरूप संस्कारका आधार होनेसे व्रीहि संस्कार्य कर्म हैं। ब्रह्मके निर्धर्मक होनेसे कोई भी अतिशय उसमें नहीं हो सकता तथा वह प्राप्य कर्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि अप्राप्त ग्रामादि गति द्वारा प्राप्त होते हैं अतः वे प्राप्य कर्म हैं। ब्रह्म तो नित्यप्राप्त होनेसे प्राप्य कर्म नहीं हो सकता। इससे अतिरिक्त और कोई कर्म-प्रकार है ही नहीं। ठीक है, यदि ब्रह्मसाक्षात्कार ब्रह्मस्वरूप होता तो वह फल नहीं हो सकता, किन्तु ऐसा नहीं है। जैसे घटसाक्षात्कार घटातिरिक्त है वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार भी ब्रह्मातिरिक्त है, अतः वह फल हो सकता है। यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि घट तो जड है अर्थात् पराधीनप्रकाश है अतः घटको अपने प्रकाशके लिए अन्य प्रकाशकी अपेक्षा होती है, परन्तु ब्रह्म तो अपराधीनप्रकाश होनेसे स्वयंप्रकाश है, अतएव ब्रह्मप्रकाश ब्रह्मस्वरूप होनेसे नित्य है, कार्य नहीं है; अतः फल भी नहीं है। यदि ब्रह्मसाक्षात्कारको ब्रह्मस्वरूपातिरिक्त भावनाप्रकर्षजन्य प्रातिभज्ञानस्वरूप मानें, तो जैसे कामिनीकी भावनाके प्रकर्षसे जन्य कामिनीका साक्षात्कार अप्रामाणिक होता है, वैसे ही भावना-प्रकर्षजन्य प्रातिभज्ञान भी प्रामाणिक नहीं हो सकता, कर्म किसका सहकारी कारण होगा ?

और यह भी विचार आवश्यक है कि ब्रह्मभावना क्या है ? यदि ब्रह्मज्ञानमात्र है, तो सकृत् ब्रह्मज्ञानसे किसीकी अविद्या निवृत्त ही नहीं होती, अतः सहकारीकारणकी चर्चा ही व्यर्थ है। यदि ब्रह्मविषयक शाब्दज्ञानसन्तति ब्रह्मभावना है, तो संशयसाधारण ज्ञानमात्राभ्याससे वस्तुस्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह संशयात्मक निरन्तराभ्यस्यमान ज्ञान 'यह स्थाणु है' अथवा 'यह पुरुष है' इन दोनों कोटियोंमें किसी भी कोटिका निर्णायक नहीं होता, इसलिए निर्विचिकित्स ब्रह्मविषयकशब्दज्ञानसन्तति ही ब्रह्मभावना है, यह मानना चाहिए। इस भावनासे ब्रह्मविषयक साक्षात्कार होता है, उस साक्षात्कारसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, यही कहना युक्ति-युक्त है, क्योंकि प्रत्यक्षात्मक भ्रमकी प्रत्यक्षात्मक प्रमाणसे ही निवृत्ति होती है। अपरोक्षदिग्भ्रम तो आप्तोक्ति द्वारा परोक्ष ज्ञान होनेपर भी निवृत्त नहीं होता। एवं बाँसमें सर्पका

भ्रम भी परोक्षज्ञानसे निवृत्त नहीं होता, इसलिए 'दशमस्त्वमसि' इत्यादि वाक्यसे प्रत्यक्ष ज्ञान माना गया है। अतः जब तक त्वंपदार्थका ब्रह्मपदार्थके साथ अभेद रूपसे अर्थात् परिशोधित त्वंपदार्थका ब्रह्मस्वरूपात्मकत्वरूपसे साक्षात्कार न होगा, तब तक जीवमें सांसारिक दुःख, शोक और मोहादिकी निवृत्ति न होगी।

अब आप स्वयं विचार कर सकते हैं कि अविद्यानिवर्त्तक ब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्कार कर्मका फल हो सकता है या नहीं? कर्म अप्रमाणात्मक है, अतः साक्षात्कार कर्मका फल नहीं हो सकता। यह साक्षात्कार अन्तःकरणवृत्तिविशेष है, ब्रह्म-स्वरूप नहीं है, अतः यही फल है, इसीको चरम तत्त्वज्ञान कहते हैं, यही समस्त प्रपञ्चका निवर्त्तक है, इसकी निवृत्ति स्वतः होती है। जैसे पङ्किल जलमें निर्मली डाल देनेसे वह पङ्कको नीचे बैठा देती है और स्वयं भी नीचे बैठ जाती है वैसे ही यह ज्ञान संसारोपादान अविद्याको नष्ट करता हुआ स्वयं भी नष्ट हो जाता है। अविद्यानिवृत्तिके लिए विद्या कर्मकी अपेक्षा नहीं करती, यह अनुमानसे भी सिद्ध है।

'ब्रह्मात्मैकत्वधीः अन्यापेक्षा न, तत्त्वधीत्वात्, शुक्तितत्त्वधीवत्' अर्थात् जैसे शुक्तितत्त्वज्ञान रजत और उसके अज्ञानकी निवृत्तिके लिए अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही उक्त विद्या भी प्रपञ्च और उसके उपादान अविद्याकी निवृत्तिके लिए अन्यकी अपेक्षा नहीं करती। इस विचार द्वारा यह सिद्ध हुआ कि मोक्षप्राप्तिका साधन केवल विद्या ही है। कर्म सहकारी कारण भी नहीं है।

अब शङ्का यह होती है कि कर्मको मोक्षसाधन ज्ञानकी उत्पत्तिका कारण तो अवश्य मानना चाहिए, क्योंकि श्रुतिमें लिखा है 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' इत्यादि यद्यपि 'प्रत्ययार्थः प्रधानम्' इस न्यायसे यज्ञादिके साधनभावका सम्बन्ध प्रधानीभूत विविदिषा ही में होना चाहिए तथापि 'असिना जिघांसति' इत्यादि प्रयोगसे हिंसासाधनत्वका सम्बन्ध तलवारमें ही प्रतीत होता है, इच्छामें नहीं, वाक्य द्वारा जिस पदार्थका जिस पदार्थमें सम्बन्ध प्रतीत होता है, उस पदार्थका उसी पदार्थके साथ सम्बन्ध करना चाहिए। कर्मसंज्ञा द्वारा भी ब्रह्मवेदनमें ही आर्थ प्राधान्य है, क्योंकि कर्ताके इष्टतमकी कर्मसंज्ञा होती है। तथा 'विद्यां चा विद्यां च यस्तद्वेदोभयं स ह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' इसमें अविद्यासे वर्णाश्रमकर्म विवक्षित हैं, मृत्युका अर्थ है ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक पूर्वकर्म तीर्त्वा—अपोह्य अर्थात् नित्यानुष्ठित निरभिसन्धि

न कर्मणा न प्रजया न धनेनाऽमृता जनाः ।
त्यागेनैकेऽमृतत्वं त आनशुः शुद्धबुद्धयः ॥ १२ ॥

वर्णाश्रमानुकूल नित्य नैमित्तिक कर्म द्वारा मृत्युका—ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धक प्राचीन कर्मका—निरास कर विद्या द्वारा अमृत ब्रह्म अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है और भी लिखा है—

'कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानन्तु परमागतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥'

कषायके—राग-द्वेषके—नाशमें निमित्त है कर्म, इसलिए वे कर्म कषायपक्ति कहे गये हैं। 'धर्मेण पापमपनुदति' इस वचनका भी उक्तार्थ में ही तात्पर्य है। पाप ज्ञानोत्पत्तिका प्रतिबन्धक है यह 'एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इस श्रुतिसे स्पष्ट ज्ञात होता है। पापकी निवृत्ति नित्य नैमित्तिक वर्णाश्रम-कर्मानुष्ठानजन्य पुण्यसे ही होती है, क्योंकि 'धर्मेण पापमपनुदति' ऐसी श्रुति है। 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' इत्यादिसे भी यही अर्थ सिद्ध होता है। 'धर्मात्सुखं च ज्ञानं च' यह स्मृति भी है। इसका अर्थ स्पष्ट ही है। अतः निरभिसन्धि बुद्धिसे जो वर्णाश्रमकर्म किए जाते हैं, उन्हींसे यदि ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति हो सकती है, तो फिर इसके लिए ग्रन्थकी रचना व्यर्थ है। इस शङ्काकी निवृत्तिके लिए लिखते हैं—**'प्रत्यग्-विविदिषासिद्ध्यै'** इत्यादि।

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन' इत्यादि श्रुतिसे यागादि निखिल कर्म प्रत्यक्—प्रतीपमञ्चति—आत्मानं जानाति, अनिर्वचनीय-शरीरेन्द्रियाद्यपेक्षया प्रतिकूलं सत्त्वेन निर्वचनीयमञ्चति इति प्रत्यक्—आत्मा, तस्य विविदिषा प्रत्यग्विविदिषा, सिद्धिः—उत्पत्तिः अर्थात् आत्मज्ञानेच्छोत्पत्तिके लिए कर्मादिकी अपेक्षा है आत्मज्ञानोत्पत्तिके लिए नहीं, अतः कर्म ज्ञानोत्पत्तिमें कारण न होनेसे परम्परया भी कारण नहीं है। यागादि निखिल कर्म विविदिषार्थ हैं—ब्रह्मज्ञानेच्छार्थ हैं, ब्रह्मज्ञानार्थ नहीं हैं; ब्रह्मज्ञानार्थ तो त्याग ही श्रुत है, क्योंकि 'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' ऐसी श्रुति है। कर्मसे धनसे प्रजासे अर्थात् पुत्रादि सन्ततिसे कोई भी मनुष्य मुक्त नहीं हुआ, किन्तु परिशुद्धचित्त पुरुष त्याग ही से अनेक मुक्त हुए हैं, इससे मुक्तिका त्याग ज्ञान ही है, कर्म नहीं है ॥११॥१२॥

[ भावार्थ यह है कि ज्ञानोत्पत्तिमें कर्म कारण नहीं हो सकता, अन्यथा

अप्रमाणभूत कर्मसे जन्य ज्ञान प्रमात्मक नहीं होगा। प्रमाज्ञान प्रमाणजन्य ही होता है। कर्मानुष्ठानके बिना भी व्युत्पन्न पुरुषको पदार्थोपस्थितिघटित शाब्द-सामग्री रहनेसे शाब्दबोध होता ही है, अन्यथा नास्तिकोंको शाब्दबोध ही न होगा। नास्तिक-ग्रन्थोंके देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारे ग्रन्थोंका भी अर्थज्ञान उनको उतना ही होता है जितना कि हम लोगोंको; अन्यथा वे लोग खण्डन ही कैसे कर सकते? यह बात दूसरी है कि हम लोगोंको अपने ग्रन्थोंमें प्रामाण्यग्रह होनेसे श्रद्धा आदि होते हैं उनको प्रामाण्य-ग्रह न होनेसे वे नहीं होते, किन्तु बोधमें कोई अन्तर नहीं है।

और यदि शाब्दबोधमें कर्म कारण होगा तो बड़ी आपत्ति यह उपस्थित होगी कि जब तक विधि और निषेध वाक्योंका यथार्थ ज्ञान न होगा, तब तक विहित कर्मोंका अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मोंका त्याग ही न हो सकेगा। विहित और निषिद्ध वाक्योंका अर्थज्ञान होनेसे कर्मानुष्ठान और कर्मानुष्ठान होनेपर उन वाक्योंका अर्थज्ञान इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष भी होगा। अन्योन्याश्रय होनेसे कार्यकारणभाव ही नष्ट हो जायगा।

यदि कहें कि कर्मकाण्डके वाक्योंके अर्थज्ञानमें कर्म कारण नहीं हैं, किन्तु उपनिषद्वाक्योंके अर्थज्ञानमें ही कर्म कारण हैं, तो इसमें विनिगमक क्या है? सांसारिक सुख-दुःखादिविशिष्ट जीवका सर्वज्ञ सर्वशक्तिसम्पन्न ब्रह्मके साथ अभेद असम्भव है; अतः योग्यता-ज्ञान न होनेसे 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंसे जीव और ब्रह्मका अभेदविषयक बोध शीघ्र नहीं होता। कर्मानुष्ठानजन्य पुण्यसे जब पापकी निवृत्ति हो जाती है, तब चित्त परिशुद्ध हो जाता है, चित्तके शुद्ध होनेसे श्रद्धाभक्तिपूर्वक योग्यता-ज्ञानोत्पत्ति होती है और जीव तथा ब्रह्मका अभेदविषयक बोध होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि योग्यताज्ञान जब प्रमाणजन्य होगा, तभी प्रामाणिक होनेसे प्रमात्मक शब्दबोधमें कारण होगा, क्योंकि प्रामाणिक योग्यताज्ञान ही शाब्दप्रमामें कारण होता है। अन्यथा 'वह्निना सिञ्चति' इस वाक्यसे भी अप्रामाणिक योग्यताज्ञानसे प्रमात्मक बोध होने लगेगा।

अथवा कर्म भी अतिरिक्त प्रमाण है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। इन दोनों पक्षोंमें किसी पक्षको भी मानना ठीक नहीं है, क्योंकि 'तस्मात् यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यादि वाक्यमें श्रुत यागादिसाधनभावका सम्बन्ध ब्रह्मज्ञानमें नहीं है, किन्तु प्रधानभूत ब्रह्मविविदिषा—ब्रह्मेच्छामें ही है, ज्ञानसे भी इच्छा शब्दतः प्रधान है।

जैसे 'राजपुत्रमानय' इस वाक्यसे राजपुत्र ही का आनयनक्रियामें अन्वय होता है। यद्यपि पुत्रकी अपेक्षासे अर्थतः प्रधान राजा है फिर भी शब्दतः प्राधान्य पुत्र हीमें है, वैसे ही यहां समझना चाहिए। याग आदि कर्मोंसे पुण्य होता है, पुण्यसे पापकी निवृत्ति होती है इसके द्वारा पुरुषका चित्त संस्कृत होता है। श्रुतिमें लिखा है—'स ह वा आत्मयाजी यो वेद इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते' अर्थात् यागादि पुण्य कर्म करनेसे पापकी निवृत्ति होती है, तदनन्तर ब्रह्मज्ञानकी इच्छा होती है, तदुपरान्त तत्त्वज्ञान होता है, इस क्रमसे 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' ध्यान मानसीक्रिया होनेसे पुरुषतन्त्र है। इच्छा करनेपर ध्यान हो सकता है, न करनेपर नहीं हो सकता, अतः 'ध्यायमानः' यह कहा है। ध्यान होनेसे तत्कारण इच्छा होती है विशुद्ध सत्त्वध्यानजनक इच्छाकी उत्पत्तिमें कारण है। इच्छा होनेसे ध्यान करता है और उसके बाद संस्कृत मनसें निष्कल अद्वैत ब्रह्मको देखता है, क्योंकि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' ऐसी श्रुति है।

सारांश यह है कि नित्यकर्मानुष्ठानसे धर्मोत्पत्ति होती है, अनन्तर पापकी निवृत्ति होती है। पाप ही अनित्य अशुचि दुःखमें नित्य शुचि सुखात्मक भ्रमको पैदाकर चित्तको मलिन करता है। पापकी निवृत्ति होनेपर जब प्रत्यक्ष तथा उपपत्तिके द्वार खुल जाते हैं, तब प्रत्यक्ष तथा उपपत्तिसे संसार अनित्य अशुचि दुःखात्मक है, यह अवश्य निश्चय होता है, इस कारण संसारसे वैराग्य होता है। तदनन्तर संसारको त्याग देनेकी इच्छा होती है। उसके बाद पुरुष संसार त्यागनेका उपाय खोजता है। खोज करनेपर यह सुनता है कि आत्माका यथार्थज्ञान ही इसका उपाय है, दूसरा नहीं है, क्योंकि 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुति है। आत्माकी जिज्ञासा करनेके बाद श्रवणादि द्वारा आत्माको जान लेता है। इस तरह परम्परया यागादि कर्म ज्ञानोत्पत्तिमें कारण हैं इसी बातको भगवद्गीता भी कहती है—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥'

अर्थात् आत्मज्ञानेच्छाका कारण कर्म है। तबतक कर्मानुष्ठान आवश्यक है जबतक ज्ञान न हो, ज्ञानोत्पत्तिके बाद कर्म करनेका अधिकार ही नहीं रहता, किन्तु कर्मत्यागपूर्वक केवल शम, दम आदि साधनयुक्त पुरुषका मुक्तिकी

कारण ज्ञाननिष्ठामें ही अधिकार है। जिन महानुभावोंका चित्त पूर्वजन्मकृत कर्मसे परिशुद्ध है, उनको इस जन्ममें कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता ही नहीं है। चित्तके शुद्ध होनेसे संसारमें आते ही संसारके असली स्वरूपका ज्ञान उनको हो जाता है, उसीसे वैराग्य होता है और ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, उनको कर्म करनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती, उन्हीं पुरुषरत्नोंको लक्ष्यकर श्रुति कहती है—'यदि वा इतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्'। इन महाजनोंको ऋणकी निवृत्तिके लिए भी कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं है। इनको ऋण होता ही नहीं, क्योंकि 'जायमानो ह वै' इत्यादि श्रुतिका तात्पर्य है—'गृहस्थः संपद्यमानः'। अन्यथा ब्रह्मवादियोंको ऋण होता तो ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यासाश्रममें आ सकता है, यह कहना असंगत हो जाता, क्योंकि 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्' इस स्मृतिके अनुसार जबतक पुरुष देवऋण पितृऋण, और ऋषिऋण इन तीनों ऋणों चुका न दे, तब तक वह मोक्षाधिकारी नहीं हो सकता। इन तीनों ऋणोंको चुकानेके लिए गृहस्थाश्रममें भी आनेकी आवश्यकता है। अध्ययनसे ऋषि-ऋणकी निवृत्ति होती है, पर देवऋणकी निवृत्ति तो यागादि कर्मानुष्ठानसे ही होती है, यागाद्यनुष्ठान दारपरिग्रहके बिना नहीं हो सकता। कारण कि पत्नीकर्तृक आज्यावेक्षण विहित है। होमार्थ घृतका निरीक्षण पत्नीको करना चाहिए। यदि पत्नी न रहेगी तो आज्यसंस्कार ही नहीं होगा। असंस्कृत आज्यसे याग करनेसे फल यदि न होगा तो याग ही व्यर्थ है। तथा पितृऋणकी निवृत्ति संतानोत्पत्तिसे होती है, इसके लिए दारपरिग्रह आवश्यक ही है और यज्ञो-पवीतसंस्कारसे पहिले किसी वैदिक विधि-निषेध कर्मका अधिकार भी नहीं रहता, इसलिए उत्पद्यमान त्रैवर्णिक बालक ऋणी हैं, यह कहना ठीक नहीं है। अध्ययनादिमें ऋणशब्दके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि ऋण जैसे अवश्य चुकाना पड़ता है, वैसे ही योग्यता होनेपर अध्ययनादि अवश्य कर्तव्य है। जन्मसमयसे ही योग्यता नहीं होती, किन्तु उपनयनोत्तर होती है, अतः जायमानका उत्पद्यमान, यह अर्थ ठीक नहीं है। यहांपर ऋणशब्दका गौण प्रयोग है, ब्रह्मचर्याश्रमसे भी संन्यास हो सकता है। यदि जन्मान्तरीयकर्मानुष्ठानसे चित्त पूर्ण परिशुद्ध हुआ हो। इसलिए 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' यह श्रुति साधनचतुष्टयसम्पत्ति होनेपर आश्रमकर्मोंकी अपेक्षा नहीं बतलाती, किन्तु जिस दिन पूर्ण वैराग्य हो जाय उसी दिन संन्यासी हो जाय—यह बोधन करती है। यहां पर संन्यासका तात्पर्य

**नन्वभ्युदयवत्साध्या मुक्तिरप्राप्तरूपतः ।**
**सिषाधयिषया चाऽतोऽधिकारी न बुभुत्सया ॥ १३ ॥**

आजकलके संन्यासमें नहीं है, किन्तु मोक्षाधिकारमें है । मोक्षाधिकारी होनेपर कर्माधिकार समाप्त हो जाता है, इसलिए श्रुति कहती है—'त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' अर्थात् मोक्ष त्याग हीसे होता है, कर्मादिसे नहीं । गीताके भगवद्वाक्यसे भी यही सिद्ध होता है—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि मा शुचः'
'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।' इत्यादि

सब धर्मोंका त्यागकर अद्वितीयात्मचिन्तनसे समूल संसारदुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायगी, शोक मत करो इत्यादि । यह निष्कर्ष निकला कि कर्म चित्तशुद्धि द्वारा विविदिषाका कारण है, मोक्षसाधन ज्ञानका कारण नहीं है । ]

**'नन्वभ्युदयवत्साध्या'** इत्यादि ।

'मोक्षः कर्मसाध्यः, शास्त्रीयफलत्वात् , स्वर्गवत्' अर्थात् मुक्ति कर्मसाध्य है, शास्त्रीयफल होनेसे स्वर्गकी तरह इस अनुमानसे कर्मसाध्यत्वकी आशङ्का करते हैं । अभ्युदय—स्वर्गादि जैसे अप्राप्त है वह कर्मद्वारा ही प्राप्त होता है वैसेही मोक्ष भी अप्राप्त है अतएव इसकी भी प्राप्ति कर्मसे ही हो सकती है अन्यथा नहीं । सिषाधयिषया—उत्पिपादयिषया अर्थात् कर्मानुष्ठान द्वारा मोक्ष उत्पन्न होता है, ऐसी इच्छावाला मनुष्य मोक्षाधिकारी है न कि बुभुत्सया—ज्ञानेच्छया अर्थात् मुक्त्यभिव्यक्तिकी इच्छासे ॥ १३ ॥

[ शङ्का—जैसे स्वर्गादि फल शास्त्रीय होनेसे कार्य है, उसी तरह मोक्ष भी शास्त्रीय फल होनेसे कार्य ही है, नित्य नहीं । कार्य व्यापारके बिना नहीं होता, इस कारण मोक्ष भी स्वर्ग-सा जन्य ही है, नित्य नहीं ।

यदि कहिए कि मोक्ष शास्त्रीय फल होनेपर भी अकार्य है, तो क्या हानि है ? हानि यह है कि जो पुरुष जिस कर्मको अपना कार्य समझता है, वही पुरुष उस कर्मका अधिकारी कहलाता है । मोक्षके अकार्य होनेसे, उसके अधिकारीका लाभ नहीं होगा । अधिकारीके बिना मोक्षशास्त्र व्यर्थ हो जायँगे, यह अधिकारीके विवेचनके समय कह चुके हैं । केवल शास्त्र ही में

यह बात नहीं है, किन्तु लोकमें भी ऐसा ही नियम है। जो गृहनिर्माण आदि कार्यको अपना कर्तव्य समझता है, वही गृहनिर्माणकार्यका अधिकारी है। शास्त्र भी लोकन्यायानुसारी है, अन्यथा नहीं। जो पुरुष अभ्युदय-फल तथा तत्साधन नियोग—पुण्य—दोनोंको अपना कर्तव्य समझता है, वही अभ्युदयार्थ यागादि कर्मोंका अधिकारी अपनेको समझ कर यागाद्यनुष्ठान करता है। नित्य कर्मका अधिकारी वह है, जो नियोग ही को अपना कर्तव्य समझता है, क्योंकि उसका फल स्वर्गादि नहीं है, इसीसे नित्य कर्मानुष्ठानजन्य पुण्यको पण्डापूर्व कहते हैं। उस पुण्यसे सुख-दुःखादिरूप फल नहीं होता, अतः नपुंसक पुरुषके सदृश होनेसे वह अपूर्व पण्ड कहलाता है। 'क्लीवः पण्डो नपुंसके' ऐसा कोष है।

इससे यह निश्चित हुआ कि शास्त्रीय फलप्राप्ति कर्माधीन है, इसलिए स्वर्गके समान मुक्ति भी कर्मजन्य ही है, अन्यथा नहीं। केवल अनुमानसे ही यह नहीं कहते, किन्तु श्रुतिसे भी यही अर्थ सिद्ध होता है—'तज्जलानिति शान्त उपासीत' 'स क्रतुं कुर्वीत' विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' 'आदित्यो ब्रह्मेत्युपासीत' 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतियोंमें मोक्षफलप्राप्तिके लिए आत्मज्ञानकी विधि भी देखते हैं।

समाधान—यदि मुक्ति कर्मजन्य मानी जाय तो जिस तरह साधनतारतम्यसे स्वर्गादिफल सातिशय तथा अनित्य है, उसी तरह मुक्ति भी सातिशय और अनित्य हो जायगी, तथा स्वर्ग और मुक्तिरूप फलके अधिकारियोंमें वैलक्षण्यरूप फल भी न रहेगा, क्योंकि अनित्य और सातिशय फलकी कामना दोनोंमें समान है, तो फिर कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड तथा पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसाका भेद भी असङ्गत हो जायगा, क्योंकि अधिकारी और फलके भेदसे ही इनका भेद है। जब दोनोंके फल और अधिकारियोंमें वैलक्षण्य ही नहीं है तो शास्त्रभेद भी असङ्गत ही है और श्रुतियोंमें ज्ञान तथा कर्मका स्वरूप श्रेय और प्रेय भेदसे दो प्रकारका बतलाया गया है। मोक्षका साधन ज्ञान जो स्वर्गके साधन कर्मसे विलक्षण है वह श्रेय कहलाता है और स्वर्गसाधन कर्म अर्थात् मोक्ष-साधनसे जो भिन्न है वह प्रेय कहलाता है। प्रायः श्रेय और प्रेय इन दोनोंके साधन ज्ञान और कर्म क्रमसे उत्तरमीमांसा और पूर्वमीमांसाके विषय हैं, क्योंकि ये ही दोनों क्रमसे पुरुषको स्वर्गापवर्गमें बांधते हैं, 'विसिनोति बध्नाति इति विषयः' इस व्युत्पत्तिसे दोनों विषय हैं। इन दोनोंमें जो अपवर्गसाधन ज्ञानका